नामवर सिंह

आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ

- छायावाद
- रहस्यवाद
- प्रगतिवाद
- प्रयोगवाद

का अध्ययन

किताबमहल प्रकाशन
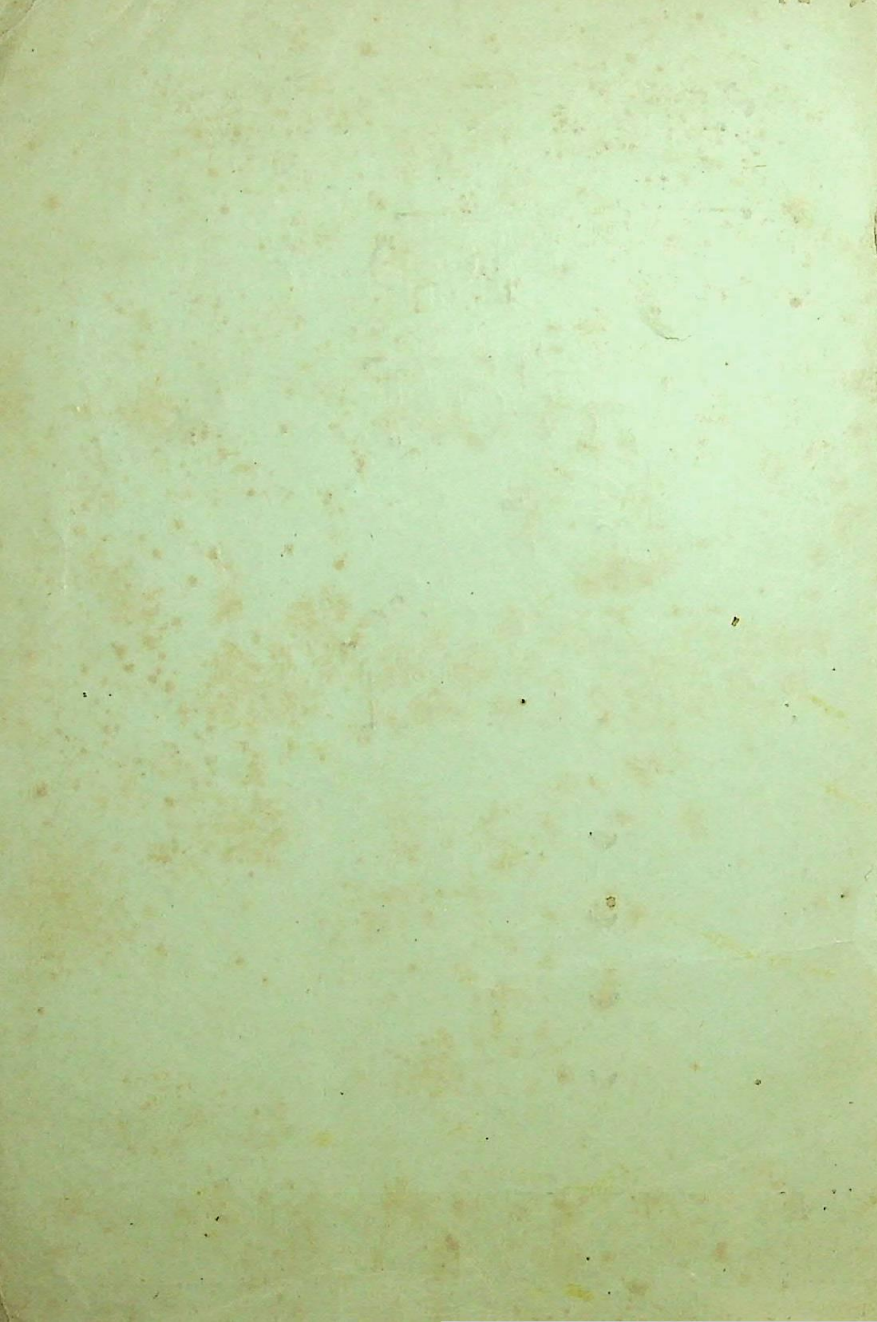
आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ

छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद

का

अध्ययन

नामवर सिंह

किताब महल, इलाहाबाद

प्रस्तावना

भारतेन्दु के साथ हिंदी साहित्य में जिस यथार्थवाद का उदय हुआ, वह सुधारवादी, आदर्शवादी और व्यक्तिवादी सीमाओं के बावजूद निरंतर विकास करता आ रहा है। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने समाज की जिन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक वास्तविकताओं का उद्‌घाटन किया, वे परवर्ती सुधारवाद के प्रभाव में डूब नहीं गईं। द्विवेदी युग के लेखकों ने साहित्य में वास्तविकता का विस्तार करने के साथ ही उसकी अभिव्यक्ति में परिष्कार किया। साहित्य की इस परंपरा को प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों और कहानियों में, निराला, पंत, प्रसाद और महादेवी ने अपनी कविताओं में, प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में तथा आचार्य शुक्ल ने अपनी आलोचनाओं में आश्चर्यजनक ढंग से आगे बढ़ाया। इस युग के उपन्यास-कहानियों, कविताओं, नाटकों और आलोचनाओं ने वास्तविकता के अनेक स्तरों और पहलुओं की अभिव्यक्ति की। प्रेमचंद का आदर्शवाद, छायावादी कवियों की कल्पना और शुक्लजी के प्राचीन संस्कार भी साहित्य में जीवन-वास्तव के आवेग को न रोक सके। इसके बाद यद्यपि यह साहित्यधारा कहीं प्रयोगवादी कविताओं के अंतर्मुखी व्यक्तिवाद में सिमट गई तो कहीं नग्न यथार्थवादी उपन्यासों के कुरुचिपूर्ण पंक में फँस गई और कहीं शुद्ध समीक्षा के समाज-निरपेक्ष तथा तटस्थ जंगल में भटक गई; फिर भी वह व्यापक सामाजिक धरातल पर प्रगतिशील रही। इसे लोक-जीवन के जागरण, उत्थान और प्रगति का प्रमाण समझना चाहिए। साहित्य की अक्षय-शक्ति का यही वह स्रोत है जो संकट-काल में भी उसे जीवनी-शक्ति देकर जीवित रखता है और आगे बढ़ाता चलता है।

स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए जनता ने मध्यवर्ग के नेतृत्व में जिस संघर्ष का सूत्रपात उन्नीसवीं सदी में किया था, वह मध्यवर्ग के सुधारवादी और समझौतावादी कार्यों के बावजूद जोर पकड़ता ही गया। इस ऐतिहासिक

अभियान में जनता के सहयोग से मध्यवर्ग ने सामाजिक और साहित्यिक क्षत्र में अनेक बहुमूल्य कार्य किए। लगभग सन् तीस–पैंतीस तक मध्यवर्ग हर तरह से अपने सर्वोत्तम रूप में था। इसके बाद न्यस्त स्वार्थों के फलस्वरूप समाज और साहित्य में वर्ग के रूप में उसका नेतृत्व निर्बल हो गया। पैंतीस के बाद का साहित्य मध्यवर्ग के इसी क्षयिष्णु प्रभाव और जनशक्ति के प्रभविष्णु होने के प्रयत्न का दर्पण है। इसमें कोई शक नहीं कि यह संक्रान्ति काल अधिक दिनों तक नहीं रहेगा। क्षयिष्णु शक्तियाँ समाज और साहित्य में थोड़े समय के लिए प्रबल भले ही दिखाई पड़ जायँ, लेकिन उन्हें समाप्त होना ही है। आज उनकी ओर जो द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण जैसे महारथी दिखाई पड़ रहे हैं, वे इतिहास के विराट पुरुष द्वारा भीतर-ही-भीतर मार डाले गये हैं। ये गजभुक्तकपित्थ के समान ऊपर से अक्षत दिखाई देते हुए भी भीतर से खोखले हैं। यदि इस महाभारत में इनके विरुद्ध कोई अर्जुन अपना गांडीव रख दे तो भी ये नहीं रहेंगे। इतिहास-पुरुष आज फिर ललकार रहा है—

> तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
> जित्वा शूत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
> मयैवेते निहता पूर्वमेव
> निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥

साहित्य में जो आज स्थायी किन्तु विकास-रुद्ध प्रतीत हो रहा है, वह महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण वह है जो अस्थायी प्रतीत होते हुए भी विकासशील है।

प्रस्तुत पुस्तक में आधुनिक साहित्य का अध्ययन इसी दृष्टि से किया गया है। प्रथम दर्शन में यही प्रतीत होगा कि इसमें आधुनिक साहित्य की सभी प्रवृत्तियों को नहीं लिया गया है। लेकिन साहित्य-रचना में चयन करना पड़ता है। जिस तरह उपन्यासकार संपूर्ण समाज का चित्रण करने के लिए कुछ प्रतिनिधि और विशिष्ट व्यक्तियों को चुनता है, उसी तरह

आलोचक भी संपूर्ण साहित्य का दिग्दर्शन कराने के लिए कभी-कभी केवल कुछ लेखकों और कवियों को चुन लेता है और कभी कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों को। यहाँ छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद— इन चार प्रवृत्तियों का चयन इसी उद्देश्य से किया गया है। निःसन्देह आधुनिक साहित्य में इतनी ही प्रवृत्तियाँ नहीं हैं, किन्तु ये प्रमुख अथवा प्रतिनिधि प्रवृत्तियाँ हैं—इसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है।

यदि आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों का निश्चय और अधिक सैद्धान्तिक आधार पर किया जाय तो जैसा कि प्रसाद जी ने अप्रैल '३७ के 'हंस' में प्रकाशित 'यथार्थवाद और छायावाद' निबंध में कहा था, "हिंदी के वर्तमान युग की दो प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें यथार्थवाद और छायावाद कहते हैं" आज भी सच है। यही प्रवृत्तियाँ अंग्रेज़ी में 'रियलिज़्म' और 'रोमैंटिसिज़्म' के नाम से पुकारी जाती हैं। भारतेन्दु-युग से आज तक का साहित्य इन्हीं दो मौलिक प्रवृत्तियों के उत्थान-पतन का साहित्य कहा जा सकता है। ऐसी हालत में आधुनिक साहित्य में इन प्रवृत्तियों के ऐतिहासिक विकास तथा पारस्परिक-संबंध का अध्ययन दूसरे ढंग से करना पड़ता। वह लंबा रास्ता है। यहाँ अपेक्षाकृत सुगम रास्ता अपनाया गया है क्योंकि साहित्य के सामान्य पाठक इसी ढंग से सोचने और समझने के अभ्यस्त हो गये हैं।

इन प्रवृत्तियों पर बहुत लिखा जा चुका है और लिखने वालों में बड़े-बड़े यशस्वी तथा नामी-गरामी लोग हैं। हरि अनंत हरि कथा अनंता। यह भी एक छोटा-सा प्रयत्न है। यह भारी-भरकम चोंगा नहीं है जो ढक तो सब कुछ ले परंतु स्पर्श किसी अंग को न करे। यह संक्षिप्त प्रयत्न केवल आवश्यक अंगों को ही स्पर्श करने के लिए है और अब आँखवाले देखें कि कितना चस्पा बैठता है!

हिंदी विभाग
काशी विश्वविद्यालय
अक्तूबर '५४

नामवरसिंह

अनुक्रम
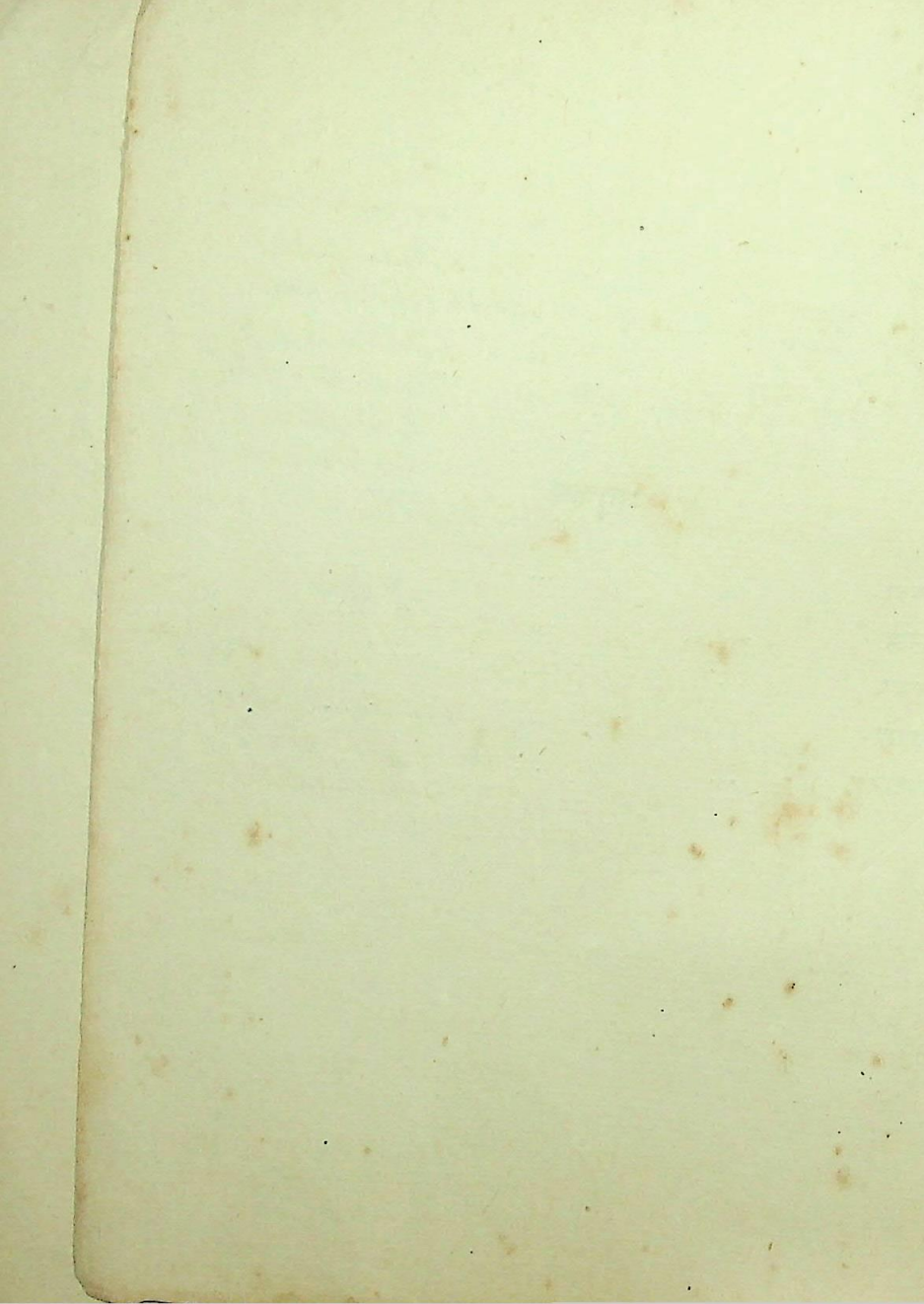
छायावाद

छायावाद विशेष रूप से हिंदी साहित्य के 'रोमैंटिक' उत्थान की वह काव्यधारा है जो लगभग ईस्वी सन् १९१८ से '३६ ('उच्छ्वास' से 'युगान्त') तक की प्रमुख युगवाणी रही, जिसमें प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, प्रभृति मुख्य कवि हुए और सामान्य रूप से भावोच्छ्वास-प्रेरित स्वच्छंद कल्पना-वैभव की वह 'स्वच्छंद प्रवृत्ति' है जो देश-काल-गत वैशिट्य के साथ संसार की सभी जातियों के विभिन्न उत्थानशील युगों की आशा-आकांक्षा में निरंतर व्यक्त होती रही है। स्वच्छंदता की उस सामान्य भाव-धारा की विशेष अभिव्यक्ति का नाम हिंदी साहित्य में 'छायावाद' पड़ा।

पत्रिकाओं से पता चलता है कि कविता के लिए 'छायावाद' शब्द का प्रयोग १९२१ ई० के आसपास हो चला था। उस साल जून की 'सरस्वती' में सुशील कुमार नामक किसी साहित्य-प्रेमी ने 'हिंदी में छायावाद' शीर्षक एक विनोदपूर्ण निबंध लिखा है। उस निबंध से दो मुख्य बातों का पता चलता है। एक यह कि सुमित्रानंदन पंत और मुकुटधर पांडेय छायावादी कवि हैं और दूसरी यह कि छायावादी कविता कोरे कागद की भाँति अस्पष्ट होती है। इस अस्पष्टता की व्याख्या करते हुए लेखक आगे कहता है कि उनमें 'वाणी की नीरवता', 'निस्तब्धता का उच्छ्वास', 'प्रतिभा का विलास', 'अनंत का विकास' आदि है।

उसी साल दिसंबर की 'सरस्वती' में मुकुटधर पांडेय ने 'कविता' शीर्षक गंभीर निबंध के द्वारा काव्यगत अस्पष्टता अथवा छाया की तात्विक व्याख्या की और पहली बार छायावाद के पर्याय-स्वरूप अंग्रेजी के 'मिस्टिसिज़्म' शब्द का प्रयोग किया। ऐसा लगता है कि कवियों ने उपहसित 'छायावाद' को गंभीरता के साथ सार्थक और उपयुक्त शब्द के रूप में स्वीकार कर लिया।

'छायावाद' के लिए 'मिस्टिसिज़्म' शब्द के आते ही 'रहस्यवाद' शब्द की बुनियाद पड़ गई और सुकवि-किंकर-छद्मनाम-धारी आचार्य महावीर

प्रसाद द्विवेदी के 'आजकल के हिंदी कवि और कविता' (सरस्वती : मई' १९२७) निबंध से पता चलता है कि जिन कविताओं को और लोग छायावाद कहते थे, उन्हीं को वे 'रहस्यवाद' कहना चाहते थे; लेकिन मुकुटधर पांडेय जहाँ उनमें 'आध्यात्मिकता' देखते थे, वहाँ आचार्य द्विवेदी के लिए वे 'अन्योक्ति पद्धति' से अधिक न थीं। 'छायावाद' का प्रचलित अर्थ समझने की कोशिश करते हुए उसी निबंध में आचार्य द्विवेदी कहते हैं—"छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब है कि किसी कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावादी-कविता कहना चाहिए।"

इस तरह पंत के 'पल्लव' और प्रसाद के 'झरना' आदि की कविताओं को १९२७ ई० तक अंग्रेज़ी में 'मिस्टिसिज़्म' और हिंदी में कभी 'छायावाद' और कभी 'रहस्यवाद' कहा जाता था। १९२८ ई० में प्रकाशित आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'काव्य में रहस्यवाद' पुस्तक से भी यही सिद्ध होता है; साथ ही शुक्ल जी के विवेचन से यह भी मालम होता है कि तात्विक दृष्टि से उन रचनाओं को 'रहस्यवाद' कहा जाता था और रूप-विधान की दृष्टि से 'छायावाद'।

आगे चलकर जब महादेवी वर्मा की प्रियतम-संबोधित बहुत-सी कविताएँ प्रकाश में आ गईं तो लोगों ने रहस्यवाद और मिस्टिसिज़्म शब्द को केवल इसी प्रकार की कविताओं के लिए सीमित कर दिया और धीरे-धीरे 'छायावाद' से इसे अलगाकर 'रहस्यवाद' नाम की एक स्वतंत्र काव्य-धारा मान ली जिसका विकास वेद-उपनिषद से आरंभ होकर कबीर, मीरा आदि से होता हुआ हिंदी में महादेवी वर्मा तक पहुँचता है। फलतः 'छायावाद' केवल आधुनिक काव्य-प्रवृत्ति रह गई और रहस्यवाद सनातन तथा चिरंतन।

सन् '३० के आसपास हिंदी छायावादी कविताओं की आलोचना के सिलसिले में अंग्रेज़ी के रोमैंटिक कवि शेली, कीट्स आदि का नाम लिया जाने लगा और इस तरह छायावाद के साथ 'रोमैंटिसिज़्म' नाम भी जुड़ गया। आचार्य शुक्ल ने 'रोमैंटिसिज़्म' के लिए हिंदी में 'स्वच्छंदतावाद' शब्द चलाया और वह चल भी पड़ा किन्तु उनके 'स्वच्छंदतावाद' की परि-

भाषा इतनी सीमित थी कि वह संपूर्ण छायावादी कविताओं को न घेर सकी; उसकी सीमा में केवल श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, गुरुभक्त सिंह, सियारामशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, उदयशंकर भट्ट और संभवतः नवीन तथा माखनलाल चतुर्वेदी ही आ सके। उनके अनुसार 'प्रकृति-प्रांगण के चर-अचर प्राणियों का रागपूर्ण परिचय, उनकी गतिविधि पर आत्मीयता-व्यंजक दृष्टिपात, सुख-दुःख में उनके साहचर्य की भावना ये सब बातें स्वाभाविक स्वच्छंदता के पथ-चिह्न हैं। (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ६५८)। इस प्रकार शुक्ल जी के 'स्वच्छंदतावाद' में छायावाद की रहस्य-भावना के लिए कोई जगह न थी। फलतः 'स्वच्छंदतावाद' अंग्रेजी के 'रौमैंटिसिज़्म' का अनुवाद होते हुए भी छायावादी कविता का केवल एक अंग बनकर रह गया और धीरे-धीरे 'छायावाद' संपूर्ण 'रोमैंटिसिज़्म' का वाचक बन गया।

आजकल हिंदी में जब 'छायावाद' कहा जाता है तो उसका मतलब उसी तरह की कविताओं से होता है जिन्हें यूरोपीय साहित्य में 'रोमैंटिसिज़्म' की संज्ञा दी जाती है और जिसके अंतर्गत रहस्य-भावना तथा स्वच्छंदता-भाव के साथ-साथ और भी कई बातें मिलती हैं।

२.

छायावाद संबंधी परिभाषाओं और आलोचनाओं को देखकर ऐसा लगता है कि आलोचकों ने प्रायः किसी एक कवि अथवा किसी एक कविता-संग्रह को ध्यान में रखकर छायावाद की विशेषताओं का निरूपण किया है। इस तरह उन्होंने 'शुद्ध छायावाद' की एक सीमा-रेखा खींचकर छायावाद के अन्य कवियों तथा कविताओं को उससे बाहर कर दिया है। जैसे किसी ने पंत जी को ही शुद्ध छायावादी माना है तो दूसरे ने उनकी संपूर्ण रचनाओं में भी केवल 'पल्लव' को 'शुद्ध' छायावाद के अंतर्गत स्वीकार किया है और फिर 'पल्लव' में भी अपनी रुचि तथा पूर्व-निश्चित धारणा की समर्थक कविताओं के आधार पर 'छायावाद' की सामान्य विशेषताएँ गिना दी हैं। इस तरह यही नहीं कि प्रसाद, निराला, महादेवी

की बहुत-सी कविताएँ 'छायावाद' से बाहर हो जाती हैं बल्कि स्वयं पंत जी की भी वीणा, ग्रंथि और गुंजन की काफ़ी रचनाएँ छायावादेतर ठहरती हैं। परंतु आलोचक को इसकी परवा नहीं है। उसका 'शुद्ध' छायावाद अपनी जगह पर क़ायम है और वह क़ायम रहेगा, भले ही उसकी सीमा से छायावाद का अधिकांश साहित्य बाहर पड़ा रह जाय।

ज़ाहिर है कि वह सीमा छायावाद की नहीं, बल्कि उन आलोचकों की है। छायावाद की विशेषताओं का आकलन छायावाद नाम से ख्यात संपूर्ण कविताओं के आधार पर होना चाहिए।

इस ढंग से विचार करने पर पता चलता है कि छायावाद विविध, यहाँ तक कि परस्पर-विरोधी-सी प्रतीत होनेवाली, काव्य-प्रवृत्तियों का सामूहिक नाम है और छानबीन करने पर इन प्रवृत्तियों के बीच आन्तरिक संबंध दिखाई पड़ता है। स्पष्ट करने के लिए यदि भूमिति से उदाहरण लें तो कह सकते हैं कि यह एक केन्द्र पर बने हुए विभिन्न वृत्तों (Co-centric circles) का समुदाय है। इसकी विविधता उस शतदल के समान है जिसमें एक ग्रंथि से अनेक दल खुलते हैं। एक युग-चेतना ने भिन्न-भिन्न कवियों के संस्कार, रुचि और शक्ति के अनुसार विभिन्न रूपों में अपने को अभिव्यक्त किया; कहीं एक पक्ष का अधिक विकास हुआ तो अन्यत्र दूसरे पक्ष का।

एक छवि के असंख्य उडगण
एक ही सबमें स्पन्दन !

परंतु जिन आलोचकों ने 'छायावाद' की विभिन्न प्रवृत्तियों और विशेषताओं की गणना की है, उन्होंने छायावाद को स्थिर और जड़ मानकर। उनसे इस तथ्य की उपेक्षा हो गई है कि छायावाद एक प्रवहमान काव्य-धारा थी; एक ऐतिहासिक उत्थान के साथ उसका उदय हुआ और उसीके साथ उसका क्रमिक विकास तथा ह्रास हुआ। छायावाद के अठारह-बीस वर्षों के इतिहास में अनेक विशेषताएँ जो आरंभ में थीं, वे कुछ दूर जाकर समाप्त हो गईं और फिर अनेक नई विशेषताएँ जुड़ गईं। निःसन्देह छायावाद के उदय और अस्त की चर्चा तो हुई है, लेकिन उसके क्रमिक

विकास का विचार बहुत कम हुआ है। इसका मुख्य कारण यही है कि भाववादी आलोचकों ने छायावाद को प्रायः समाज से ऊपर सर्वथा शुद्ध भाव-राशि मानकर विचार किया है।

३.

छायावाद व्यक्तिवाद की कविता है जिसका आरंभ व्यक्ति के महत्त्व को स्वीकार करने और करवाने से हुआ, किन्तु पर्यवसान संसार और व्यक्ति की स्थायी शत्रुता में हुआ। बीसवीं सदी की काव्य-सीमा में प्रवेश करने पर हिंदी कविता के पाठक का ध्यान सबसे पहले जिस विशेषता की ओर जाता है, वह है वैयक्तिक अभिव्यक्ति। व्यक्तिगत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में आधुनिक कवि ने जो निर्भीकता और साहस दिखलाया, वह पहले किसी कवि में नहीं मिलता। आधुनिक 'लीरिक' अथवा 'प्रगीत' इसी वैयक्तिकता के प्रतीक हैं। मध्ययुग के संत-भक्त और रीतिवादी कवि प्रायः निर्वैयक्तिक ढंग से अपनी बातें कहते थे। संतों और भक्तों के विनय के पदों में जो वैयक्तिक ढंग दिखाई पड़ता है, वह केवल भगवान् के प्रति निवेदन है; अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय में वे प्रायः मौन ही रहते थे और काव्य में अपने प्रणय-संबंधों की चर्चा करने की बात तो उस समय सोची भी नहीं जा सकती थी। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय व्यक्ति सामाजिक मर्यादाओं से कितना बँधा हुआ था।

आधुनिक कवि ने जीवन की इस संकुलता तथा अतिशय सामाजिकता को तीव्रता के साथ अनुभव किया। वर्ड्सवर्थ के शब्दों में उसे लगा कि 'The world is too much with us.' प्राचीन कृषि-व्यवस्था पर आधारित समाज ऐसा ही होता है जिसके छोटे दायरे में लोगों को अपने पड़ोसी के अच्छे बुरे सभी कार्यों में ज़रूरत से ज्यादे दिलचस्पी रहती है; और कभी-कभी यह सहायक की जगह बाधक प्रतीत होने लगती है। आधुनिक शिक्षा से प्रभावित युवक ने इस व्यक्ति-रोधी सामाजिकता का बहिष्कार करके पहले तो निर्जन प्रकृति में आश्रय लिया जैसा कि पंत जी के वक्तव्यों से पता चलता है और फिर धीरे-धीरे शक्ति-संचय करके समाज में आकर उन रूढ़ियों के प्रति अपने वैयक्तिक विद्रोह का उद्घोष

किया। पहले तो उसे पशु-पक्षियों की तरह प्राकृतिक जीवन में ही अपनी निजता, स्वतंत्रता और आत्मभाव की संभावना दिखाई पड़ी, किन्तु बाद में जब क़दम क़दम पर उसका संघर्ष सामाजिक रूढ़ियों से होने लगा तो उसने अपने व्यक्तित्व को उसके प्रतिरोध में खड़ा किया। 'आत्मकथा' उसका विषय हो गया और 'मैं' उसकी शैली। प्रसाद ने तो स्पष्टतः अपनी 'आत्मकथा' का स्पष्टीकरण ही लिख डाला और 'निराला' ने सबकी ओर से स्वीकार किया कि "मैंने 'मैं' शैली अपनाई!"

अपनी दुर्बलताएँ भी उसने साहस के साथ कहीं और जिन बातों को अब तक लोग समाज के भय से छिपाते थे उन्हें भी छायावादी कवि ने खोलकर रख दिया। पंत जी ने 'उच्छ्वास', 'आँसू' और 'ग्रंथि' में प्रणयानुभूति की अवाध अभिव्यक्ति की। 'उच्छ्वास' की सरल बालिका कोई आध्यात्मिक सत्ता नहीं है, और न उसके साथ व्यक्त किया हुआ प्रणय-संबंध कोई आध्यात्मिक भावना है! सीधे शब्दों में 'बालिका मेरी मनोरम मित्र थी।' लेकिन समाज तो ऐसी चीज़ों को बर्दाश्त कर नहीं सकता, इसलिए उस लांछन के विरुद्ध अपने प्रेम की पवित्रता को घोषित करते हुए कवि कहता है—

कभी तो अब तक पावन प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार
हुई मुझको ही मदिर आज
हाय यह गंगा-जल की धार!

प्रसाद का 'आँसू' भी मूलतः इसी प्रकार का मानवीय प्रेम-काव्य है, जिसके द्वितीय संस्करण में कवि ने सामाजिक भय से रहस्यात्मकता और लोकमंगल का गहरा पुट दे दिया है। फिर भी असलियत जग-जाहिर रही और आचार्य शुक्ल से भी कहे बिना न रहा गया कि 'इन रहस्यवादी रचनाओं को देखकर चाहे तो यह कहें कि इनकी **मधुचर्या के मानस-प्रसार** के लिए रहस्यवाद का परदा मिल गया अथवा यों कहें कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम से कूदकर असीम पर जा रही।' (इतिहास, पृ० ६७९)।

छायावाद की इस प्रणय-संबंधी वैयक्तिकता का प्रसार क्रमशः जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी हुआ। निराला का 'विप्लवी बादल' इसी वैयक्तिक विद्रोह का अग्रदूत है! 'सरोज-स्मृति' ('३५) और वन-बेला ('३७) में यही वैयक्तिक विद्रोह और भी खुलकर व्यक्त हुआ। ये रचनाएँ कवि की आपबीती के अनावृत आख्यान हैं। जिस तरह की निजी बातें यहाँ एकदम खरे ढंग से कही गई हैं, हिंदी में पहले कभी नहीं कही गईं। जिस अहंवादी कवि के लिए 'अहंकृति में झंकृति—जीवन' हो उसकी कविताएँ भी स्वभावतः 'अहंकृति की झंकृति' होंगी।

जब पुरुष-व्यक्ति की यह स्थिति है तो इस पुरुष-प्रधान समाज में नारी की आत्माभिव्यक्ति पर कितनी रोक हो सकती है तथा एक नारी को स्पष्ट आत्माभिव्यक्ति में कितनी कठिनाई आ सकती है, इसका पता महादेवी जी के रहस्य-गीतों से ही लगाया जा सकता है; फिर भी महादेवी जी ने कहीं कहा है कि आज का साहित्यकार अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख लेना चाहता है। यही नहीं, 'छायावाद' पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि इस व्यक्ति-प्रधान युग में व्यक्तिगत सुख-दुःख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे, अतः छायायुग का काव्य स्वानुभूति-प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास-विषाद का सफल माध्यम बन सका। (विवेचनात्मक गद्य, पृ० ९७)

छायावादी युग का मानव अपनी व्यक्तिता की खोज के लिए कितना आकुल था इसे 'कामायनी' के मनु के मुख से सुनें—

वन गुहा कुंज मरु अंचल में हूँ खोज रहा अपना विकास!

आत्मविकास की टोह में निकला हुआ यह आधुनिक मनु धीरे-धीरे युगान्त तक जाते-जाते इतना व्यक्तिवादी हो गया कि बोल उठा—

मैं तो अबाधगति मरुत सदृश हूँ, चाह रहा अपने मन की!

इस स्वेच्छाचारी मनु ने आखिर संपूर्ण समाज के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी; जिसने आरंभ में प्रजातंत्र की नींव डाली, उसीने सर्वसत्ताधारी निरंकुश शासक का पद प्राप्त कर लिया। और इस समाज-विरोध के फल-स्वरूप उसे घायल होकर अंत में समाज से दूर कैलास-शिखर पर पलायन करना पड़ा।

आरंभ में जिस व्यक्ति ने अपने व्यक्तित्व की खोज के लिए निर्जन प्रकृति में प्रवेश किया था, अंत में उसीने समाज से भागकर प्रकृति के कल्पना-लोक में शरण ली। जिसके आरंभिक आत्मप्रसार में समाज के सामंती मूल्यों को चुनौती थी, उसके अंतिम अहंभाव में संपूर्ण समाज, विशेषतः अपने ही मध्य-वर्गीय समाज की व्यावसायिकता से घबड़ाहट का तीव्र असंतोष है और निराशा है। जिसकी आरंभिक एकांत-प्रियता में शक्ति थी, उसकी अंतिम असामाजिकता में निराशा है। यह वह समय था जब 'कोलाहल की अवनी तजकर' कवि 'सागर के निर्जन तट' पर भागने लगा। परंतु यह स्थिति तो 'छायावाद' के अंतिम दिनों में आई और 'प्रसाद' में ही नहीं बल्कि निराला, पंत, महादेवी सब में; इससे पहले जो आत्म-विकास की भावना थी उसने जीवन में तथा काव्य में भाव तथा कल्पना का अभूतपूर्व वैभव-विस्तार किया। वस्तुतः यह व्यक्तिवाद ही छायावादी काव्य के विविध वृत्तों का केन्द्र-विन्दु है।

व्यक्तिवाद ने छायावादी कवि में यदि एक ओर वैयक्तिक अभिव्यक्ति की आकांक्षा उत्पन्न की तो दूसरी ओर उसके संपूर्ण दृष्टिकोण को व्यक्ति-निष्ठ बना दिया। छायावादी कवि संसार की सभी वस्तुओं को आत्मरंजित करके देखने का अभ्यस्त हो गया। विश्व की व्यथा से स्वयं व्यथित होने की जगह वह अपनी व्यथा से विश्व को व्यथित होने की कल्पना करने लगा। छायावाद के व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण को समझने के लिए उसके पूर्ववर्ती द्विवेदी-युग के विषयनिष्ठ अथवा तथ्यपरक काव्य को ध्यान में रखना आवश्यक है। द्विवेदी युग का काव्य शुक्लजी के शब्दों में जहाँ 'इतिवृत्तात्मक' था वहाँ छायावादी काव्य 'रागात्मक' हो उठा। निर्जीव तथ्यों के स्थान पर छायावादियों ने चुने हुए रागात्मक तथ्यों को रागरंजित करके सत्य के रूप में उपस्थित किया। इस व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण की विशेषता बतलाते हुए 'कलकत्ता विश्वविद्यालय-व्याख्यानमाला' के अंतर्गत 'तथ्य और सत्य' (१९२३ ई०) व्याख्यान में रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि "चित्रकार जब चित्र बनाने बैठता है, तब वह तथ्य का संवाद देने नहीं बैठता। वह तथ्य को उसी हद तक स्वीकार करता है जिस हद तक उसको उपलक्ष्य करके किसी एक सुषमा का छंद विशुद्ध रूप में मूर्तिमान हो उठता है।"

इस प्रकार छायावादी कवियों ने चुने हुए तथ्यों को उपलक्ष्य बना करके अपने जीवन के अनेक सत्यों की अभिव्यंजना की। इस प्रक्रिया में छायावाद का ध्यान वस्तु के बाह्य आकार की अपेक्षा या तो उसमें निहित भाव की ओर गया या उसकी सूक्ष्म छाया की ओर। प्रकृति-चित्रण में पहले के कवि जहाँ पेड़-पौधों का नाम गिनाकर अथवा प्राकृतिक दृश्यों के स्थूल आकार का वर्णन करके संतुष्ट हो लेते थे, वहाँ छायावादी कवि ने प्रकृति के अन्त: स्पन्दन का सूक्ष्म अंकन किया। वृक्ष की अपेक्षा उसका ध्यान छाया की ओर था; यहाँ तक कि संपूर्ण कविता 'सुछवि के छाया-वन की साँस' हो गई--केवल छाया नहीं बल्कि उससे भी अधिक सूक्ष्म उसकी साँस अर्थात् साँस लेती हुई छाया का स्पन्दन!

यदि संध्या का वर्णन करते हुए द्विवेदी युगीन कवि हरिऔध ने लिखा--

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला
तरु-शिखा पर थी अब राजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।

तो उसी सन्ध्या का चित्रण मेघमय आसमान से उतरती हुई सुन्दरी के रूप में करते हुए 'निराला' उसकी गतिविधि इस प्रकार आँकते हैं--

तिमिराञ्चल में चंचलता का नहीं आभास

और

अलसता की सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह,
छाँह सी अम्बर पथ से चली।

कहाँ तो सान्ध्य गगन में लोहित रंगों की चटक-मटक और कहाँ निस्पंद तिमिरांचल, अलसता की लता तथा नीरवता-युक्त छाँह का संचरण!

इस तरह छायावाद ने वस्तुगत सौन्दर्य के सूक्ष्म स्तरों का उद्घाटन करके हिंदी साहित्य के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वस्तुतः

प्रकृति अपने-आप में सुन्दर नहीं है, उसका सौन्दर्य मनुष्य के लिए है और मनुष्य युग-युग से प्रकृति को अपने तन-मन से सुन्दर बनाता आ रहा है। एक ओर मनुष्य के हाथों निसर्ग का नैसर्गिक सौन्दर्य और भी निरखता आया है तो दूसरी ओर मनुष्य का मन उस वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य के भी अनेक सूक्ष्म और अज्ञात स्तरों का उद्घाटन करता रहा है। छायावादी कवियों ने प्रकृति में छिपे हुए इतने सौन्दर्य-स्तरों की जो खोज की, वह आधुनिक मानव के भौतिक और मानसिक विकास का सूचक है। इस सौन्दर्यबोध का विकास प्रकृति और मानव के पारस्परिक संबंधों का परिणाम है। प्रकृति ने मनुष्य में सौन्दर्य-बोध जगाया और मनुष्य ने उद्बुद्ध होकर प्रकृति में नवीन सौन्दर्य की खोज की और इस तरह दोनों परस्पर-वर्धमान हुए।

छायावाद के व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण ने प्रकृति-सौन्दर्य में ही सूक्ष्मता नहीं दिखाई, बल्कि मानव-सौन्दर्य में भी स्थूल शारीरिकता की जगह स्वस्थ मांसल तथा भावात्मक सुषमा की प्रतिष्ठा की। मध्ययुग के कवि नारी की जिन भौंहों को 'कमान' समझते थे, छायावादी कवि के लिए उन्हीं 'करुण भोंहों में था आकाश!'

यही नहीं—

> कपोलों में उर का मृदु भाव
> श्रवण नयनों में प्रिय वर्ताव
> सरल संकेतों में संकोच
> मृदुल अधरों में मधुर दुराव।

इन पंक्तियों से नारी का स्थूल आकार ही सामने नहीं आता बल्कि सुन्दर अंगों के माध्यम से उसके आन्तरिक भावसौन्दर्य का भी आभास मिल जाता है।

नारी की लज्जा का चित्रण मध्ययुगीन कवियों ने भी किया था किन्तु 'कनक-किरन के अंतराल में लुक-छिपकर चलनेवाले लाज-भरे सौन्दर्य' को तो प्रसाद ने ही देखा। इसके अतिरिक्त 'कामायनी' में नारी की लज्जा का जो भव्य चित्रण हुआ है, वह संपूर्ण भारतीय साहित्य में

अद्वितीय है। प्रसाद जी का नारी-सौन्दर्य-चित्रण पंत जी की तरह भाव-प्रधान होते हुए भी कहीं अधिक मांसल है; लेकिन प्रसाद जी से भी इस विषय में आगे निराला हैं!

सामान्य नारी के सौन्दर्य का चित्रण तो सभी करते हैं, लेकिन वह नारी यदि स्वयं अपनी पुत्री हो तो कवि की परीक्षा हो जायगी! स्वस्थ-मन और समर्थ कवि निराला के लिए ही यह संभव हो सका कि उन्होंने अपनी पुत्री 'सरोज' की स्मृति में शोक-गीत लिखते हुए एक स्थल पर उसके सौन्दर्य का भी स्मरण किया है। विवाह के शुभ कलश का जल पड़ने के बाद का वह आमूल नवल रूप—

तू खुली एक उच्छ्वास-संग
विश्वास-स्तब्ध बँध अंग अंग,
नत नयनों से आलोक उतर
काँपा अधरों पर थर-थर-थर!

और कवि ने अनुभव किया कि—

शृंगार, रहा जो निराकार
रस कविता में उच्छ्वसित-धार
गाया स्वर्गीया-प्रिया-संग
भरता प्राणों में राग-रंग
रति-रूप प्राप्त कर रहा वही
आकाश बदल कर बना मही।

अर्थात् 'सरोज' ही नहीं, बल्कि उसका रूप भी कवि की सृष्टि है—कवि के निराकार भाव ही जैसे रूप धारण करके 'सरोज' बन गये! भावात्मक दृष्टि से मूर्त रूप-चित्रण का यह उत्कृष्ट उदाहरण है—दृष्टिकोण अमूर्त है किन्तु दृश्य मूर्त है।

जब प्रसाद जी ने सौन्दर्य को 'उज्ज्वल वरदान चेतना का' कहा तो, प्रकारान्तर से उन्होंने इसी भावात्मक, दृष्टिकोण का समर्थन किया। इसी

बात को रवीन्द्रनाथ ने अत्यंत स्पष्ट ढंग से 'चैतालि' की 'मानसी' कविता में व्यक्त किया है—

> शुधु विधातार सृष्टि नह तुमि, नारी।
> पुरुष गड़ेछे तोरे सौन्दर्य संचारि
> आपन अन्तर हते। ....
> ....
> अर्धेक मानवी तुमि, अर्धेक कल्पना।

इस प्रकार महादेवी जी के शब्दों में 'सौन्दर्य की स्थूल जड़ता से मुक्ति मिलते ही नारी को **प्रकृति के समान ही** रहस्यमय शक्ति और सौन्दर्य प्राप्त हो गया जिसने उसके मानसिक जगत् से पिछली संकीर्णता धो डाली।' (विवेचनात्मक गद्य, पृ० ९०)।

लेकिन व्यक्तिवाद की तरह व्यक्तिनिष्ठ भावात्मक दृष्टिकोण में भी क्रमशः अतिरेक होता गया। कवि के अनुसार जब 'मन ही सर्वसृजन' है, तो उसने प्रकृति के वस्तुनिष्ठ रूप का सर्वथा निषेध करके उसके स्थान पर एकदम मानसिक प्रकृति खड़ी कर दी। ऐसा पंत जी के यहाँ प्रायः हुआ है। उनकी 'चाँदनी' धीरे-धीरे कपूर-सी उड़ती उड़ती इतनी अदृश्य हो गई कि अंत में हैरान होकर कवि को कहना पड़ा कि—

> वह है, वह नहीं, अनिर्वच !

जब तक वह 'लघु परिमल के घन-सी' थी तब तक तो ग़नीमत थी; लेकिन अंत में वह 'अनुभूति-मात्र-सी उर में' रह गई ! भाववादी दृष्टिकोण की यह पराकाष्ठा है !

प्रकृति की तरह नारी भी इस भाववादी दृष्टिकोण के अतिरेक का शिकार हुई। एक ओर 'निराला' के यहाँ—

> वह विचर रही थी मानस की प्रतिमा सी।

तो पंत के मुख से

> बन गई मानसि तुम साकार !

उच्चरित होकर भी वह मूलतः 'मानसी' ही रही।

इन्हीं सब बातों को देखकर आलोचकों ने छायावाद को 'स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह' कहा।

व्यक्तिवाद के मूल से छायावाद में जो तीसरी बात पैदा हुई, वह है भावुकता। सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध यदि सामूहिक विद्रोह होता तो इतना असंतोष और निराशा का अनुभव न होता; किन्तु छायावादी कवि का विद्रोह वैयक्तिक था। इसलिए स्वभावत: उस एकाकी संघर्ष में उसे पद-पद पर पराजय और निराशा का अनुभव हुआ; दु:ख उसका सहचर बन गया। छायावाद की आरंभिक कविताओं में 'उच्छ्वास' और 'आँसू' का बाहुल्य इसीलिए है। कवि की इस मन:स्थिति को उसकी असामाजिकता तथा एकान्तप्रियता ने और भी गहरे विषाद से रँग दिया। जिन कवियों में स्पष्ट 'उच्छ्वास' और 'आँसू' नहीं हैं, उनमें एक विलक्षण प्रकार का 'विषाद' दृष्टिगोचर होता है। 'प्रसाद' के झरना का 'विषाद' तथा उनके 'स्कंदगुप्त' की अवसाद और उदासी से मिली-जुली विषण्ण मन:स्थिति ऐसी ही है! 'कामायनी' के एकाकी मनु की आरंभिक 'चिन्ता' और निराशा इसी विषाद के दूसरे पहलू हैं। पंतजी का 'उन्मन गुंजन' भी ऐसा ही कुछ है।

बात यह है कि आधुनिक परिस्थितियों ने इस युग के व्यक्ति को अत्यधिक संवेदनशील बना दिया; वह अपने उल्लास, आह्लाद, व्यथा आदि किसी को भी दबा सकने में असमर्थ था। इन भावों की व्यंजना, यों तो, पहले के कवियों ने भी की है किन्तु उनमें एक प्रकार के संयम और मर्यादा का अनुभव होता है। कबीर, सूर, तुलसी के करुणा-विगलित आर्त आत्म-निवेदन में भी परिणत वय और धीर स्वभाव का संयम है। किन्तु छायावादी कवि में उच्छल भावुकता का अबाध उद्गार है; यहाँ तक कि भावुकता छायावाद का पर्याय हो गई। आमतौर से लोगों में छायावादी कहने के माने ही था किसी को अत्यंत भावुक कहना!

नि:सन्देह विकास-क्रम में यह भावुकता धीरे-धीरे कम होती गई और कैशोर भावुकता का स्थान प्रौढ़ चिंतन ने ले लिया।

लेकिन अतिरिक्त-सी प्रतीत होनेवाली इस कैशोर भावुकता ने छायावादी कवि को ऐसी अन्तर्दृष्टि दी जिसे कल्पना-शक्ति कहते हैं। यों तो यह कह

सकना कठिन है कि भावुकता ने कल्पना-शक्ति को जाग्रत किया या कल्पना-शक्ति ने भावुकता को; फिर भी यह निश्चित है कि छायावादी भावुकता और कल्पना में अन्योन्याश्रित और अभिन्न संबंध है। कविता में भावाभिव्यंजन और कल्पना-कलन पहले भी हुआ है परंतु भाव-प्रबलता से प्रेरित कल्पना-शक्ति का जो वैभव छायावादी कविता में दिखाई पड़ा वह अभूतपूर्व है। छायावादी कवि इस रोमैंटिक अथवा स्वच्छंद कल्पना को केवल 'कल्पना' नाम से ही पुकारते थे। संभवतः 'कल्पना' शब्द का जितना अधिक प्रयोग और उसको जितनी लोकप्रियता छायावाद के द्वारा मिली, उतनी पहले कभी न मिली थी। छायावाद युग में 'कल्पना' कविता का पर्याय हो गया। निराला ने कविता को 'कल्पना के कानन की रानी' कहा और पंत ने अपने 'पल्लव' की कविताओं को 'कल्पना के ये विह्वल बाल!'

छायावादी कवियों के लिए कल्पना बिल्कुल बुनियादी चीज़ थी— कल्पना उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग था; उनकी कल्पना-शक्ति को दबाने का अर्थ था स्वयं उनके व्यक्तित्व को दबाना। कल्पना ही उनकी वह शक्ति है जिसके द्वारा वे अपने बंधनों की सीमा में रहते हुए भी उन्मुक्त आकाश में विचरण करने का सुख लेते थे। कल्पना छायावादी कवि के मन की पाँख थी; वह उसकी स्वतंत्रता, मुक्ति, विद्रोह, आनंद आदि की आकांक्षाओं का प्रतीक थी।

कल्पना के द्वारा एक ओर वह अतीत में जा पहुँचता था, दूसरी ओर भविष्य के स्वर्ण युग को आँखों के सामने साकार करता था; एक ओर असीम आकाश में उड़कर आनंद-लोक बसाता था, दूसरी ओर वस्तु-गत रहस्यों का पता लगाता था। कल्पना उसकी राग-शक्ति भी थी और बोध-शक्ति भी।

कल्पना-शक्ति का उपयोग प्राचीन और मध्ययुग के कवियों ने भी किया है और इसके द्वारा काव्य में अत्यंत रमणीय अप्रस्तुत-विधान की सृष्टि की है। कविता में प्रस्तुत के लिए जो अप्रस्तुत की योजना की जाती है, वह कल्पना का ही व्यापार है; मार्मिक उपमाओं के भावक कालिदास की कल्पना-शक्ति को इनकार नहीं किया जा सकता। लेकिन आधुनिक छाया-

वादी कविताओं के साथ कालिदास की रचनाओं को मिलाकर देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कल्पना कालिदास के लिए गौण वस्तु थी—वास्तविकता ही उनका प्रधान लक्ष्य था। कालिदास का 'मेघ' पंत के 'बादल' से अधिक वास्तविक और कम कल्पनाबहुल है। 'मेघदूत' में मेघ के लिए जगह-जगह निःसन्देह बड़ी ही मनोरम उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ लाई गई हैं लेकिन अन्ततः उससे रामगिरि से लेकर कैलास तक की भारत-भूमि की यात्रा कराई गई है। कालिदास का मेघ उत्तर भारत की नदियों और पहाड़ों को ही देखता हुआ कैलास नहीं पहुँच जाता बल्कि विदिशा, उज्जयिनी, दशपुर आदि प्रसिद्ध नगरों को भी देखना नहीं भूलता—यहाँ तक कि उज्जयिनी उसके रास्ते में नहीं पड़ती थी फिर भी उस महा-नगरी के लिए मेघ थोड़ा घूम जाता है। वास्तविकता की ओर कालिदास का ध्यान इतना था कि नगरों के अतिरिक्त जनपदों से भी अपने मेघ को जाने का आदेश देते हैं—उन्हीं जनपदों में से एक है मालवा जिसके तुरंत जोते हुए खेतों से उठनेवाली सोंधी गंध से गुजरते हुए मेघ वहाँ की जनपद-वधुओं के लोचनों से पिया जाता है। जनपद-वासियों को स्नेह करनेवाले कालिदास मेघ से आग्रह के साथ कहते हैं कि फूल चुनते-चुनते जो मालवी मालिनियाँ थक गई हैं और पसीने के कारण जिनके कर्णफूल कुम्हला गये हैं, उनका पसीना अवश्य पोंछ देना।

लेकिन पंत जी का वायवी 'बादल' यही नहीं कि इस धरती से सर्वथा अनजान है, बल्कि स्वयं भी अधिकांशतः कल्पना-पुंज है। इस 'बादल' का परिचय स्वयं उसीके शब्दों में—

हम सागर के धवल हास हैं
जल के धूम, गगन की धूल
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव
वारिवसन, वसुधा के मूल;
नभ में अवनि, अवनि में अम्बर,
सलिल भस्म, मारुत के फूल

हम ही जल में थल, थल में जल
दिन के तम, पावक के तूल।

किसी वस्तु को देखकर यदि प्राचीन कवि को अधिक-से-अधिक उस वस्तु से मिलती-जुलती अथवा उससे संबद्ध दो-एक अन्य अप्रस्तुत वस्तुओं की ही याद आती थी, तो छायावादी कवि के मन में सैकड़ों 'एसोसिएशन्स' अथवा स्मृति-चित्र जग जाते थे। 'यमुना' को देखकर यदि विहारी ने इतना ही कहा कि—

सघन कुंज छाया सुखद, शीतल सुरभि समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥

तो निराला के मन में यमुना से संबंधित सैकड़ों स्मृति-चित्र उभर आये और 'यमुना' के किनारे उन्होंने कल्पना की एक दूसरी ही सृष्टि खड़ी कर दी। वस्तुतः निराला ने वर्तमान यमुना पर एक दूसरी 'यमुना' बहा दी और यह यमुना अतीत की यमुना का संस्मृत नवीन संस्करण है।

अतीत की ओर यह स्नेह-मुग्ध दृष्टि और उसे पुनर्जीवित करके लौटा लाने की आकुलता कल्पना के ही अनेक व्यापारों में से एक है—कवि यमुना से पूछता है—

किस अतीत का दुर्जय जीवन
अपनी अलकों में सुकुमार
कनक-पुष्प-सा गूँथ लिया है
किसका है यह रूप अपार ?

और फिर इस कल्पना-कलित यमुना के आदि स्रोत का पता पूछते हुए कवि कहता है—

किस अतीत से मिला आज वह
यमुने तेरा सरस प्रवाह !

और इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि निराला की इस यमुना का आदिस्रोत कल्पना का अतीत-शिखर है, वर्तमान हिमालय नहीं।

इस परिवर्तित परिस्थित की विभीषिका से घबड़ाकर पंत जी भी स्वर्णिम अतीत को पुकार उठते हैं—

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन वह सुवर्ण का काल
भूतियों का दिगन्त छवि जाल !

और प्रासाद तो जैसे अतीत-प्रवासी ही थे। महाप्रलय में विनष्ट देवसृष्टि की मधुमय याद करते हुए प्रसाद के मनु कराह उठते हैं—'गया, सभी कुछ गया, मधुरतम !' यह वह सृष्टि थी जिसमें 'चलते थे सुरभित अंचल से जीवन के मधुमय निश्वास', और 'सौरभ से दिगन्त पूरित था, अंतरिक्ष आलोक अधीर !'

अतीत में मन की यह उड़ान वर्तमान से असंतोष का ही परिणाम है।

जिस प्रकार वर्तमान से असंतुष्ट मन अतीत की ओर भागता है, उसी तरह इस जगत् से असंतुष्ट होकर किसी अन्य जगत् की खोज में निकल पड़ता है और न मिलने पर कल्पना के द्वारा एक सुखद लोक की सृष्टि कर डालता है। छायावाद युग में 'उस पार' और 'क्षितिज के पार' जैसी बातें जो अक्सर सुनाई पड़ती थीं, वे इसी भावना की अभिव्यक्ति थीं। 'परिमल' में निराला स्पष्ट रूप से कहते हैं—'हमें जाना है जग के पार !' और 'कामायनी' के मनु जब आह भरते हैं—

आह, कल्पना का सुन्दर वह
जगत मधुर कितना होता !
सुख स्वप्नों का पल छाया में
पुलकित हो जगता-सोता।

तो उसी कल्पना-लोक की ओर संकेत करते हैं।

कभी-कभी बिना किसी प्रकार के तात्कालिक असंतोष के ही किसी सुन्दर दृश्य को देखकर मन दृश्य-जगत् से परे कल्पना के अदृश्य-जगत् में जा पहुँचता है; जैसे निराला के 'तुलसीदास' को चित्रकूट की प्राकृतिक सुषमा देखते ही पंख लग जाते हैं—

वह उस शाखा का वन-विहंग
उड़ गया मुक्त नभ निस्तरंग
छोड़ता रंग पर रंग-रंग पर जीवन !

छायावाद में जो 'स्वप्नों' की बहुत चर्चा है, वह या तो ऐसे ही 'दिवास्वप्न' के रूप में अथवा जीवन संघर्षों से थके हुए मन के सो जाने पर आये हुए सुखद स्वप्न के रूप में। जिस प्रकार छायावाद युग की अधिकांश प्रतिमाएँ छायाजीवी हैं, उसी तरह अधिकांश पात्र स्वप्नजीवी हैं; यहाँ तक कि निराला के राम भी उनके 'तुलसी' की ही तरह रह-रहकर स्वप्नों में डूब जाते हैं—कभी उनकी आँखों में पृथ्वी-तनया—कुमारिका-छवि कौंध जाती है; कभी सामने का भूधर पार्वती-सा प्रतीत होने लगता है और अंत में कल्पना की 'शक्ति' प्रकट होकर उन्हें वरदान भी दे जाती हैं। जीवन-संघर्षों में हारता हुआ व्यक्ति किसी प्रकार कल्पना के द्वारा शक्ति अर्जित करता है अथवा आत्मविश्वास के लिए विजय की कल्पना करता है—'राम की शक्ति पूजा' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

दूसरी ओर प्राकृतिक सौन्दर्य कवि की कल्पना को किस प्रकार जाग्रत करता है और उसे जगत्-जीवन को समझने की अन्तर्दृष्टि देता है इसका उत्कृष्ट उदाहरण निराला का 'तुलसीदास' है। भारत की तत्कालीन वास्तविक स्थिति का बोध इस तुलसीदास को कल्पना-लोक में ही होता है।

अन्तर्दृष्टि-दायिनी कल्पना और जीवन-शक्ति-दायिनी कल्पना—इन दोनों की सुंदर अभिव्यंजना छायावादी काव्य में हुई है। प्रकृति-सौन्दर्य-जनित कल्पना ने ही 'कामायनी' के चिन्तापर मनु के मन में आशा का संचार किया और जीवन से निराश हृदय में जिजीविषा जगाई! मनु अनुभव करने लगे—

मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में।
मैं भी कहने लगा, "मैं रहूँ"
शाश्वत नभ के गानों में।

छायावाद युग की कविताओं को देखने से पता चलता है कि उन कवियों को संसार में जो वस्तु सबसे अधिक सुन्दर, उदात्त, मधुर, अपराजेय अर्थात् किसी भी बात में श्रेष्ठ प्रतीत हुई है, उसे उन्होंने 'कल्पना' नाम दिया है अथवा कल्पना से उपमित किया है। पंत जी यदि बादल को 'विपुल कल्पना से त्रिभुवन की', 'अंबुधि की कल्पना महान्' आदि कहते हैं; 'नक्षत्र' को 'ऐ अनंत की अगम कल्पना' बतलाते हैं; 'छाया' को भी 'गूढ़ कल्पना-सी कवियों की' मानते हैं; तो 'अनंग' को 'प्रथम कल्पना कवि के मन में' और 'अप्सरा' को भी 'अखिल कल्पनामयि अयि अप्सरि' संबोधन करते हैं। इसी तरह प्रसाद जी भी हिमालय की उदात्तता बतलाने के लिए यही उपमान चुनते हैं—'विश्व-कल्पना-सा ऊँचा वह !'

तात्पर्य यह कि कल्पना छायावादी कविता की मौलिक विशेषता है। इसी ने कवि को रहस्यदर्शी बनाया; असीम और अनंत की सार्वभौम अनुभूति दी; अति परिचित वस्तुओं में भी अपरिचित सौन्दर्योद्घाटन की अन्तर्दृष्टि दी तथा विरूप वस्तुओं को भी रूपमय बनाने की क्षमता प्रदान की; इसीने कवि में नवीन ऐन्द्रिय-बोध जगाये और अभूतपूर्व संवेदनशीलता उभारी।

छायावाद के अनुभूति प्रवण कवियों ने वर्ण, ध्वनि, गंध, स्पर्श, रस आदि के अत्यंत सूक्ष्म ऐन्द्रिय बोध का परिचय दिया। 'अग्निशिखा' के रंग को स्पष्ट करते हुए प्रसाद जी उसे 'मधु पिंगल तरल अग्नि' कहते हैं तो हिम-संसृति पर पड़ते हुए आलोक का वर्ण-सौन्दर्य दिखलाने के लिए इस प्रकार की कल्पना करते हैं—

सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग।

इसी प्रकार अरुण अधर पर धवल मुस्कान की वर्ण-च्छायाएँ अलगाते हुए वे कहते हैं कि जैसे रक्त किसलय पर—

अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।

दूसरी ओर पंत जी नील लहरों पर सांध्य किरण के बुझते हुए आलोक का विश्लेषण इस प्रकार करते हैं—

लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर पड़ गई नील ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।

वर्ण-विवेक की तरह छायावादी कवियों ने ध्वनि-संबंधी सूक्ष्मताओं की ओर भी ध्यान दिया। सन्नाटे की विचित्र-सी आवाज़ को शब्दों में पंत जी इस प्रकार रखते हैं—

गुंजित अलि-सा निर्जन अपार !

अथवा सान्ध्य वन के क्रमशः थमते हुए रव का यह चित्र—

पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर !

और पावस-कालीन पपीहा, झींगुर, दादुर, बादल, बूंदें, निर्झर आदि से उठनेवाले विभिन्न प्रकार के स्वरों का यह चित्र—

पपीहों की वह पीन पुकार
निर्झरों का भारी झर् झर्
झींगुरों की झीनी-झनकार
घनों की गुरु-गम्भीर-घहर
विन्दुओं की छनती-छनकार
दादुरों के वे दुहरे-स्वर।
हृदय हरते हैं विविध प्रकार
शैल-पावस के प्रश्नोत्तर।

ऐन्द्रिय-बोध के अतिरिक्त अन्तर्दृष्टि-दायिनी कल्पना ने मन में अनेक प्रकार की सूक्ष्म अनुभतियाँ तथा उन अनुभूतियों को अच्छी तरह व्यक्त करने की क्षमता जगाई।

जैसे सुधि में प्रिया के साथ की हुई बातों को दुहराना—

पूर्व सुधि सहसा जब सुकुमारि !
सरल-शुक-सी सुखकर-सुर में

तुम्हारी भोली बातें
कभी दुहराती है उर में।

(आँसू: पंत)

अथवा नव-परिचय के क्षण की सतत रहस्यमयता—

नित्य परिचित हो रहे तब भी रहा कुछ शेष
गूढ़ अंतर का छिपा रहता रहस्य विशेष
दूर जैसे सघन वन-पथ अंत का आलोक
सतत होता जा रहा हो, नयन की गति रोक।

(कामायनी-वासना)

अथवा प्रणय के प्रथम उदय-काल की मनःस्थिति—

दूर थी,
खिंचकर समीप ज्यों मैं हुई
अपनी ही दृष्टि में;
जो था समीप विश्व
दूर दूरतर दिखा।

(अनामिका-प्रेयसी)

इस तरह की अनुभूतियों की सूक्ष्मता प्रसाद जी की 'कामायनी' और 'प्रलय की छाया' जैसी लंबी कविताओं में काफ़ी मिलेगी।

लेकिन इस कल्पना ने एक ओर छायावाद में जहाँ इतनी विशेषताएँ पैदा कीं, वहाँ दूसरी ओर जब धीरे-धीरे इसका अतिरेक होने लगा तो कल्पना-प्रवण अन्तर्दृष्टि अधिक गहन, गूढ़ और रहस्यमय हो गई; फलतः गहराई की जगह दुर्बोध्य उलझनों तथा अस्पष्ट भावों की सृष्टि होने लगी। प्रसाद जी की कामायनी में ऐसे स्थल काफ़ी हैं। कल्पना की ऊँची उड़ान से कभी-कभी वस्तु-चित्रण में भी अस्पष्टता आई जैसे पंत जी की 'अप्सरा' में। परंतु निराधार, कल्पना के विकार अधिक प्रकट हों, इससे पहले ही यथार्थवाद की तीव्र आँच से छायावादी 'आइकेरस' के कल्पना के मोमी

पंख पिघलने लगे और 'छत्तीस तक जाते-जाते अपने आप कविता में कल्पना-शक्ति अत्यंत क्षीण हो गई।

छायावाद की इस स्वानुभूति, भावुकता, कल्पना आदि ने अपने अनुकूल शब्दचयन, वाक्य-विन्यास, प्रतीक-योजना तथा छंद-गठन भी किया।

छायावाद को उत्तराधिकार में द्विवेदी युग का इतिवृत्तात्मक शब्द-समूह प्राप्त हुआ था जिसके द्वारा न तो वैयक्तिक अनुभूति की भावुक अभिव्यंजना हो सकती थी और न वस्तुगत सूक्ष्म सौन्दर्य का ही चित्रण हो सकता था। परंतु छायावादी भावुकता का विद्युत-स्पर्श होते ही कल्पना के पंखों का सहारा पाकर जड़ भाषा उन्मुक्त आकाश में उड़ चली। अतीत-यात्रा में कालिदास, भवभूति, वाणभट्ट आदि संस्कृत कवियों की ललित पदावली मन के साथ लिपटी हुई चली आई। अपने मध्ययुगीन ब्रजभाषा-काव्य के भी अनेक शब्द जो संस्कार-स्वरूप अवचेतन में पड़े हुए थे, ऊपर आ गये। रवीन्द्रनाथ की संस्कृत-शाद्वल बँगला कविताओं की गूँज ने भी नवीन शब्दों का वातावरण तैयार कर दिया। अंग्रेज़ी की रोमेंटिक कविताओं को पढ़ते-पढ़ते भी काफी शब्द मन ही मन अनूदित होते रहे। इस प्रकार पतझर की भाषा देखते-देखते कुसुमित शब्दों से लद गई। शब्दों के चयन और निर्माण में छायावादी कवियों ने कितना श्रम किया, इसका कुछ आभास शब्द-शिल्पी पंत जी की पल्लव की 'भूमिका' से हो सकता है। फिर भी छायावादी कविता का शब्द-सौन्दर्य उसके स्वतंत्र शब्दों में उतना नहीं है जितना शब्दों के लयमय क्रम में है। अलग-अलग लेने पर वे शब्द प्रायः संस्कृत के काव्यों अथवा कोशों में मिल जाएँगे; लेकिन यदि उन्हीं शब्दों को कविता के संगीतमय क्रम में देखें तो पता चलेगा कि यह शब्द-मैत्री तथा लय अभूतपूर्व है। पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी की रचना से एक एक उदाहण लेकर इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है—

पंत—

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर

विहग कुल की कलकंठ हिलोर
मिला देती भू नभ के छोर

प्रसाद—

मधुमय वसंत जीवन वन के
वह अंतरिक्ष की लहरों में
कब आए थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले पहरों में।

महादेवी—

स्पन्दन में चिर निष्पंद बसा
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली !

निराला—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे।

इन चारो उद्धरणों से संपूर्ण छायावादी काव्य के शब्द-चयन का तो पता नहीं चल सकता, लेकिन मुख्य प्रवृत्ति का आभास मिल सकता है। इसके अतिरिक्त चारो कवियों की विशिष्ट रुचियों का भेद भी मालूम हो जाता है। पंत के शब्द अपेक्षाकृत छोटे, असंयुक्त वर्णवाले, हल्के तथा वायवी हैं। प्रसाद के शब्द अधिक प्रगाढ़, मधुमय और नादानुकृतिमय हैं। महादेवी के शब्दों में रुपये की-सी स्पष्ट ठनक और खनक है और निराला में संधि-समास-युक्त विविध जाति और ध्वनिवाले शब्दों में भी अनुप्रास-मय व्यंजन-संगीत उत्पन्न करने की चेष्टा है। छायावाद के इन चारो कवियों में निराला को छोड़कर शेष तीनों में सर्वत्र अपने-अपने ढंग के

प्रायः एक से शब्दों का संकल्प मिलता है; केवल निराला में शब्द-चयन की विविधता तथा अनिश्चितता है।

छायावादी कविता के शब्द-समूह का दूसरा पहलू वह है जहाँ अतिशय शब्द-मोह दिखाई पड़ता है। मधुर ध्वनिवाले शब्दों के मोह में पड़कर छायावादी कवियों ने प्रायः आवश्यकता से अधिक शब्दों का व्यय किया है। जिस प्रकार छायावादी कविता में अनावश्यक कल्पना-बाहुल्य मिलता है, उसी प्रकार अनावश्यक शब्दों की फ़िज़ूलखर्ची दिखाई पड़ती है। फिर भी भावों का क्षेत्र सीमित होने के कारण छायावाद का शब्द-कोश भी काफ़ी सीमित है।

भावोच्छ्वास की प्रधानता के कारण छायावादी वाक्य-प्रवाह में शब्दों का क्रम प्रायः खड़बड़ा गया। प्रसाद की भाषा में इस तरह के दूरान्वय-वाले वाक्य बहुत मिलते हैं। इसके अतिरिक्त, भाषा को कोमल बनाने के लिए प्रायः सभी छायावादी कवियों ने 'है', 'था', आदि सहायक क्रियाओं का बहिष्कार किया। इस पर अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए 'पल्लव' की भूमिका में पंत जी लिखते हैं "खड़ी बोली की कविता में क्रियाओं और विशेषतः संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग कुशलतापूर्वक करना चाहिए, नहीं तो कविता का स्वर (एक्सप्रेशन) शिथिल पड़ जाता है, और खड़ी बोली की कविता में यह दोष सबसे अधिक मात्रा में विराजमान है। 'है' को तो, जहाँ तक हो सके निकाल देना चाहिए, इसका प्रयोग प्रायः व्यर्थ ही होता है।"

फलतः कभी-कभी इस प्रकार के निष्क्रिय वाक्यों की शृङ्खला दिखाई पड़ती है—

> तरुवर के छायानुवाद सी
> उपमा सी, भावुकता सी
> अविदित भावाकुल भाषा सी
> कटी छँटी नव कविता सी

यह है आगे-पीछे दोनों ओर से कटी-छँटी नव कविता की भावाकुल भाषा का एक नमूना। लेकिन ऐसा प्रायः कम ही हुआ है।

शब्द-चयन की तरह छंद और काव्य-संगीत के क्षेत्र में भी छायावादी भावावेग ने नई दिशाएँ खोज निकालीं। छायावाद से पहले के कवियों की सारी शक्ति खड़ी बोली की स्वाभाविक छन्दःप्रवृत्ति तथा छन्दःप्रकृति की खोज में लग गई और पर्याप्त श्रम के बाद लावनी, संस्कृत के अतुकान्त वर्ण-वृत्त आदि बँधे चरणोंवाले छंद निश्चित किये गये। छायावादी कवियों ने इस बँधी परिपाटी के विरुद्ध पहली स्थापना यह की कि छन्दः प्रकृति का मौलिक आधार है भाव-लय। छायावाद के भावुक कवि ने अनुभव किया कि पूर्ववर्ती कवियों की तरह छंदों के साँचे के अनुसार भावों को मोड़ना भावों के साथ अन्याय करना है। इसलिए उसने विविध भाव-लय के अनुसार छंद-लय और भाव-प्रवाह के अनुसार चरणों का आकार परिवर्तित किया। पंत जी के 'उच्छ्वास' में भावानुकूल छंद के लय और चरणों का द्रुत परिवर्तन द्रष्टव्य है।

सिसकते अस्थिर मानस से
बाल बादल सा उठकर आज
सरल अस्फुट उच्छ्वास।
अपने छाया के पंखों में
(नीरव घोष भरे शंखों में)
मेरे आँसू गूँथ फैल गम्भीर मेघ सा
आच्छादित कर ले सारा आकाश।

इन सात पंक्तियों में लगभग छः जगह छंद में मोड़ आये हैं। पीछे इस द्रुत परिवर्तन से भाव-प्रवाह में बाधा पड़ते देख कवि ने छंदः-संगति की ओर विशेष ध्यान दिया।

छंदोविधान में भाव-विवेक के आगमन से स्वच्छंद छंद अथवा मुक्त-छंद का प्रचलन हुआ और निराला जी इसके प्रवर्तक हुए। भावों के स्वच्छंद विकास के लिए कवि ने चरण और तुक सबके बंधन ढीले करके केवल स्वर-प्रवाह की रक्षा की। इस तरह प्राचीन घनाक्षरी छंद के स्वर-प्रवाह में निराला ने अनेक मुक्तछंद लिखे। निराला के लिए छंद सचमुच ही

छंद (बंधन) प्रतीत हुआ, इसलिए उन्होंने स्वच्छंदतावाद के लिए छंदों के बंधन को भी तोड़ना अनिवार्य समझा। उनकी 'जुही की कली' ऐसे ही मुक्त-छंद में खुली। उन्होंने कविता से प्रगल्भ होकर कहा कि आ तू 'प्रिये छोड़कर बन्धनमय छंदों की छोटी राह'।

इस तरह लंबे भावों के लिए लंबी कविताओं के छंदोविधान के अतिरिक्त छोटे-छोटे भावों के लिए छायावाद ने लोकगीतों के आधार पर गीतों की रचना की। हिंदी में सफल प्रगीत की रचना सबसे पहले छायावाद युग में ही हुई। निराला और महादेवी वर्मा ने इस दिशा में सबसे अधिक काम किया। छंदोवैचित्र्य की दृष्टि से संभवतः निराला की देन सबसे अधिक है।

अलंकार-योजना की दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती द्विवेदी युग की तुलना में तो छायावाद आगे है ही, संपूर्ण हिंदी काव्य में भी इसे अद्वितीय कहा जा सकता है। प्राचीन काव्य के पक्षधर आचार्य शुक्ल ने भी स्वीकार किया है कि छायावादी कवियों ने लाक्षणिक साहस सबसे अधिक दिखाया। उनके अनुसार 'आभ्यंतर प्रभाव-साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक, पद्धति का प्रचुर विकास छायावाद की काव्य-शैली की असली विशेषता है।' (इतिहास, पृ० ६७१)।

कल्पनाप्रधान काव्य में अनूठी उपमाओं और प्रतीकों का बाहुल्य तथा भाव-विदग्ध हृदय से लाक्षणिक वक्रता-भरी भाषा का निकलना स्वाभाविक है।

स्वभाव की शीतलता बतलाने के लिए 'चाँदनी का स्वभाव में वास', कहना, और विचारों का भोलापन दिखाने के लिए 'विचारों में बच्चों की साँस' लिखना नूतन प्रतीक-व्यंजन का उदाहरण है।

इसी प्रकार गदगद स्वर के आह्लाद की अभिव्यक्ति के लिए 'खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गद-गद बोल' और प्रवासिनी-प्रिया की मधुर याद को प्रकट करने के लिए प्रिया को दूर की तान से उपमित करना नवीन औपम्य-विधान के सूचक हैं। प्रवासित 'रत्नावली' के लिए निराला की यह उपमा देखिए—

वह आज हो गई दूर तान
इसलिए मधुर वह और गान !

छायावादी कवियों--विशेषतः पंतजी ने विशेषणों के प्रयोग में अद्‌भुत चमत्कार पैदा किया। एक छोटे से विशेषण के द्वारा पंत जी ने कई वाक्यों में कही जाने योग्य बात कह दी है। नील झंकार, गंध-गुंजित, तुतला उपक्रम, मूर्छित आतप, तुतला भय, तुमुल तम जैसे सैकड़ों विशेषण-जन्य सुन्दर प्रयोग पंत में अनायास मिलेंगे।

चित्रात्मकता छायावादी कविता की बहुत बड़ी विशेषता है। विराट् उपमाओं के सहारे कभी-कभी बड़े ही मनोरम चित्रों की रचना की गई है--जैसे महादेवी के ये दो चित्र--

अवनि-अम्बर की रुपहली सीप में
तरल मोती सा जलधि जब काँपता।

और--

तम-तमाल ने फूल
गिरा दिन-पलकें खोलीं।

इन सबका महत्त्व स्वीकार करते हुए भी पंत जी के शब्दों में कहना पड़ता है कि छायावाद 'काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।' (आधुनिक कवि : पर्यालोचन)।

४.

छायावाद के बारे में प्रायः कहा जाता है कि इसका संबंध तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन से क़त्तई न था। आलोचकों का बड़ा पुराना आरोप है कि जिस समय देश में स्वतंत्रता के लिए संघर्ष हो रहा था, छायावादी कवि कल्पना लोक में बैठकर हृत्तन्त्री के तार बजाया करते थे। लेकिन ऐसा वही लोग कहते हैं जो साहित्य को समाज का अविकल अनुवाद समझते हैं। अच्छी तरह से देखने पर पता चलेगा कि छायावाद ने अपने युग को अत्यंत भावात्मक रूप में अभिव्यक्त किया है।

वस्तुतः हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के दो मोर्चे थे। एक मोर्चा प्राचीन सामंती मर्यादाओं के विरुद्ध था और दूसरा अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध।

छायावाद का व्यक्तिस्वातंत्र्य सामंती मर्यादाओं के विरुद्ध बहुत बड़ा क़दम था। निराला के 'पंचवटी-प्रसंग' में राम सीता से आधुनिक युवक के हृदय की बात कहते हैं—

छोटे से घर की लघु सीमा में
बँधे हैं क्षुद्र भाव
यह सच है प्रिये,
प्रेम का पयोनिधि तो उमड़ता है
सदा ही निःसीम भू पर।

राजनीतिक और आर्थिक रूप में यही व्यक्ति-स्वातंत्र्य शोषित कृषकों का पक्ष लेकर विप्लव के बादल का आह्वान करता था।

विप्लव रव से छोटे ही हैं शोभा पाते
तुझे बुलाता कृषक अधीर
ऐ विप्लव के वीर!

सामंती रूढ़ियों से नारी को मुक्त करके भी छायावादी कवि ने राष्ट्रीय आन्दोलन में सहयोग दिया। तिरस्कृता विधवा को 'इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी' पवित्र कहना, भोग्या नारी के 'संग में पावन गंगा-स्नान' की कल्पना करना और उसे 'देवि, माँ, सहचरि, प्राण' कहकर पुकार उठना आदि बातें आधुनिक कवि के नारी-आदर्श की सूचक हैं। छायावादी कवि ने नारी को अपमान के पंक और वासना के पर्यंक से उठाकर देवी और सहचरी के उच्च आसन पर प्रतिष्ठित किया। नैतिकता की पुरानी रूढ़ियों को तोड़कर उसने मानव-विवेक पर आधारित प्रेम संबंधी नवीन नैतिक मूल्यों की स्थापना की; सूखे सुधारवाद की जगह छायावाद ने रागात्मक आत्म-संस्कार का बीजारोपण किया; मध्यवर्ग को व्यावसायिक प्रयोजन-शीलता तथा अत्यंत उपयोगितावादी दृष्टिकोण से मुक्तकर आदर्शवाद के उच्च आकाश में विचरण करने की प्रेरणा दी।

जहाँ तक साम्राज्य विरोधी मोर्चे का सवाल है, इस पर छायावादी कवि ने स्पष्ट रूप से अंग्रेजों का विरोध तो नहीं किया लेकिन परोक्ष

रूप से साम्राज्यवाद के विरुद्ध देश-प्रेम, जागरण तथा आत्मगौरव का गान गाया। भारत-भूमि की प्रशंसा में प्रसाद का गाया हुआ—

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ-विभा पर नाच रही तरु शिखा मनोहर
फैला जीवन-हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा।

देश-प्रेम की भावप्रवण व्यंजना है।

इसी तरह प्रसाद का ही एक जागरण गीत है—

हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती !

और अपने देशवासियों को जगाने के लिए ही छायावादी कवि अतीत गौरव का स्मरण कराते हुए कहता है—

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार।

इन्हीं गीतों को ध्यान में रखते हुए महादेवी जी ने कहा है कि राष्ट्रीय भावना को लेकर लिखे गए जय-पराजय के गान स्थूल धरातल पर स्थित सूक्ष्म अनुभूतियों में जो मार्मिकता ला सके हैं वह किसी और युग के राष्ट्रगीत दे सकेंगे या नहीं इसमें सन्देह है। (विवेचनात्मक गद्य, पृ० ६८)

परंतु छायावाद में जहाँ एक ओर सामंती और साम्राजी मान्यताओं के विरुद्ध इस प्रकार का भावात्मक विद्रोह है वहाँ दूसरी ओर इनसे पलायन की भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। महादेवी जी छायावाद को 'प्रकृति के बीच जीवन का उद्‌गीथ' भले ही कहें, किंतु छायावादी कविता में प्रस्तुत और अप्रस्तुत रूप में प्रकृति की ही प्रधानता है। छायावादी कवि ने सामंती सामाजिकता के विरुद्ध आधुनिक व्यक्ति-स्वातंत्र्य का

नारा तो अवश्य उठाया, लेकिन उसने वह व्यक्ति-स्वातंत्र्य प्रकृति के सरल वातावरण में प्राप्त करना चाहा। समाज से व्यक्ति को स्वतंत्र करके विकसित व्यक्तियों के आधार पर स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था करने की जगह उसने प्रकृति की आदिम और सरल व्यवस्था की कल्पना की। यह उसकी अतिशय व्यक्तिवादिता तथा असामाजिकता है।

इसी प्रकार उसने नारी को भी मुक्त करने की घोषणा तो की किन्तु उसे भी या तो एकदम अप्सरा बना दिया अथवा निष्प्राण देवी। बिना किसी ठोस आधार के उसका नारी-मुक्ति-आन्दोलन नारी के लिए दूसरा कारागार बन गया। इस बार नारी पुरुष के स्वच्छंद प्रेम का शिकार होने के लिए ही मुक्त की गई।

असीम और अनंत के नाम पर छायावादी कवि ने सार्वभौम भावना का तो प्रसार किया किन्तु उसी असीम और अनंत को अपने पलायन का विश्राम-स्थल भी बना लिया। क्षुद्र आवश्यकताओं से ऊपर उठाकर उसने उच्च आदर्शवाद का पाठ तो अवश्य पढ़ाया लेकिन फिर कोरे आदर्शवाद की पट्टी बाँधकर आँखों के सामने से वस्तुस्थिति को ओझल कर दिया।

परंतु ये सभी सीमाएँ प्रायः उस युग के संपूर्ण मध्यवर्ग की है। उस युग के मध्यवर्गीय विचारों के प्रतिनिधि गांधीवाद में भी इसी तरह की असंगतियाँ दिखाई पड़ती हैं।

५.

यों तो छायावाद संज्ञा कविता के लिए ही प्रयुक्त होती है, तथापि यह एक व्यापक जीवन-दृष्टि थी। इसकी अभिव्यक्ति कविता के ही क्षेत्र में सबसे अधिक हुई; परंतु कहानी, उपन्यास, नाटक यहाँ तक कि आलोचना भी इससे काफी प्रभावित हुई। प्रसाद के नाटक, कहानी और उपन्यास छायावादी दृष्टिकोण के प्रभाव को अच्छी तरह प्रकट करते हैं। अन्य कवियों में से निराला के अप्सरा, अलका, निरुपमा आदि उपन्यास, महादेवी जी के 'अतीत के चलचित्र' तथा 'स्मृति की रेखाएँ' तथा पंत जी की कहानियाँ भी इससे प्रभावित हैं। सभी छायावादी कवियों तथा अन्य प्रभाववादी आलोचकों के आलोचनात्मक निबंधों पर भी छायावादी दृष्टि

का प्रभाव स्पष्ट है—विशेषतः महादेवी जी के निबंधों पर। काव्य-शैली की भाँति गद्य-शैली पर छायावाद का प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रभाव का सर्वोत्तम रूप प्रसाद और महादेवी के गद्य में मिलता है और निकृष्टतम रूप चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की कहानियों में। भावात्मक और कल्पना-प्रवण जीवन-दृष्टि होने के कारण ही छायावाद की अभिव्यक्ति मुख्यतः रचनात्मक साहित्य और उसमें भी केवल कविता में हुई।

कुल मिलाकर छायावाद आधुनिक खड़ी बोली कविता के स्वाभाविक विकास की चरम परिणति है। जैसा कि मुकुटधर पांडेय ने छायावाद के आरंभिक युग में ही कहा था 'इसका सूत्रपात उस महापुरुष की दिव्य लेखनी से हुआ है जो वर्तमान कालीन हिंदी भाषा का जनक माना जाता है।' स्पष्टतः मुकुटधर पांडेय का यह संकेत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से था। मुकुटधर पाण्डेय ने भारतेंदु को छायावाद का प्रवर्तक नहीं कहा है बल्कि उस परिवर्तन का सूत्रपात करनेवाला कहा है जो कविता के भावराज्य में, उस समय के अनुसार, विगत चालीस-पचास वर्षों में हुआ था। आज इस बात को समझने और मानने में कोई कठिनाई नहीं है, लेकिन एक ज़माना था जब छायावाद को सर्वथा विदेशी प्रभाव मानकर उड़ा दिया जाता था। स्वयं आचार्य शुक्ल जैसे गम्भीर आलोचक का भी विचार था कि यदि अनेक विदेशीवादों से प्रभावित 'छायावाद' नाम की काव्यधारा हिंदी में न चल पड़ती तो मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय आदि द्वारा प्रवर्तित हिंदी की प्रकृत काव्यधारा—स्वच्छंदतावाद का स्वाभाविक विकास होता। 'जो यह होता तो क्या होता' जैसी अटकलबाज़ी छोड़कर यदि विचार करें तो निश्चय होगा कि मुकुटधर पाण्डेय आदि की स्वच्छंदतावादी काव्यधारा की स्वाभाविक परिणति छायावाद के रूप में हुई। मुकुटधर पाण्डेय आदि स्वच्छंदतावादी कवि वस्तुतः छायावाद के ही पुरस्कर्त्ता थे उसी प्रकार जैसे अंग्रेजी साहित्य में बर्न्स, वर्ड्सवर्थ आदि कवि शेली, कीट्स, बायरन के पुरस्कर्ता थे। आज का इतिहासकार तो यही अनुभव करता है कि विदेशी साहित्य ने हिंदी की स्वच्छंदतावादी काव्यधारा के विकास में बाधा नहीं डाली, बल्कि उसे छायावाद में रूपान्तरित होने में सहायता पहुँचाई।

छायावाद को द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया कहने से कुछ लोगों के मन में धारणा बन गई है कि छायावाद पूर्ववर्ती कविता की परंपरा के विरुद्ध कोई एकदम नई काव्य-प्रवृत्ति है; लेकिन जिनमें ऐतिहासिकता का थोड़ा-सा भी बोध है वे जानते हैं ऐतिहासिक विकास प्रायः पूर्ववर्ती युग के अंतर्विरोधों से तथा उसकी प्रतिक्रिया से ही होता है। फलतः छायावाद द्विवेदी युग का ऐतिहासिक विकास है और इस प्रकार छायावाद हिंदी साहित्य की परंपरा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से हिंदी साहित्य में भक्ति काव्य के बाद छायावादी काव्य का ही नाम लिया जाता है।

जिस प्रकार बारहवीं-तेरहवीं सदी में शुरू होनेवाले मध्ययुगीन सांस्कृतिक पुनरुत्थान का चरमोत्कर्ष सोलहवीं सदी के भक्ति-काव्य में हुआ उसी प्रकार उन्नीसवीं सदी में शुरू होनेवाले आधुनिक सांस्कृतिक जागरण का चरमोत्कर्ष बीसवीं सदी के छायावादी काव्य तथा प्रेमचंद के उपन्यासों में हुआ। हिंदी साहित्य में छायावादी कविता का ऐतिहासिक महत्त्व होने के साथ ही शाश्वत मूल्य है। छायावाद में अनुभूति अपेक्षाकृत कम और कल्पना-वैभव अधिक है, इसलिए यह भक्ति-काव्य के बराबर नहीं आता; फिर भी इसमें मानव-हृदय को रसमग्न करने और शक्ति देने योग्य स्थायी गुण बहुत से हैं।

छायावाद के ऐतिहासिक कार्य को संक्षेप में डा० रामविलास के शब्दों में कहा जा सकता है कि द्विवेदी युग की वैष्णवी श्रद्धा और सशंक नैतिकता के बदले पहले-पहले अविश्वास और मानवीय प्रेम और शृंगार के स्वर सुनाई पड़ते हैं, नैतिकता के विरोध ने उच्छृंखलता का रूप नहीं लिया। नये कवियों ने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए उस सामाजिक स्वाधीनता की माँग की जिसे पिछले युग के सामाजिक बन्धन दबाकर रखना चाहते थे। इन कवियों ने नये ढंग से प्रकृति का चित्रण शुरू किया; इस तरह की कविता को उन्होंने लक्षण ग्रंथों की सीमाओं से उबार लिया। उद्दीपन या उपदेश के लिए प्रकृति का वर्णन काफ़ी नहीं था। प्रतीक रूप में भी प्रकृति का उपयोग किया गया, लेकिन पहले-पहल हिंदी कविता में

उसके यथार्थ चित्र देखने को मिले। सामाजिक रचनाओं में दलित वर्ग के प्रति भावुक सहानुभूति प्रकट की तो साथ ही साथ सामाजिक ढाँचा वदलने के लिए विप्लव और क्रान्ति की माँग भी की। रहस्यवादी कविताओं में उन्होंने आनंद और प्रकाश में इष्टदेव की कल्पना की लेकिन अपने जीवन की दारुण व्यथा को भी वे भुला नहीं सके। छन्द और भाषा में नये प्रयोग करके उन्होंने रीतिकालीन आचार्यों को वता दिया कि हिंदी कविता में एक नये युग का आरंभ हो गया है।" (निराला, पृ० ६८)।

रहस्यवाद

१.

रहस्य-भावना प्राचीन है लेकिन 'रहस्यवाद' सर्वथा आधुनिक विचार-धारा है। हिंदी-साहित्य में 'रहस्यवाद' शब्द का प्रयोग १९२० ई० से पहले नहीं दिखाई पड़ता है। जब मुकुटधर पाण्डे, सुमित्रानंदन पंत, जयशंकर प्रसाद की नवीन कविताएँ प्रकाश में आईं तो उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना के सिलसिले में 'रहस्यवाद' शब्द का प्रयोग किया गया। रवीन्द्र की अंग्रेज़ी गीतांजलि को देशी-विदेशी आलोचकों ने 'मिस्टिक' कहा था; इसलिए हिंदी में भी उस तरह की कविताओं को 'मिस्टिक' और उनमें निहित भावधारा को 'मिस्टिसिज़्म' समझकर उनके लिए हिंदी शब्द 'रहस्यवाद' चलाया गया।

मई' १९२७ ई० की 'सरस्वती' में 'सुकवि किंकर' नाम से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'आजकल हिंदी कवि और कविता' निबंध में इस विषय पर विचार करते हुए लिखा है कि "अंग्रेजी में एक शब्द है 'मिस्टिक' या 'मिस्टिकल'। पंडित मथुरा प्रसाद दीक्षित ने अपने त्रैभाषिक कोश में उसका अर्थ लिखा है—गूढ़ार्थ, गुह्य, गुप्त, गोप्य और रहस्य। रवीन्द्र-नाथ की यह नये ढंग की कविता इसी 'मिस्टिक' शब्द के अर्थ की द्योतक है। इसे कोई रहस्यमय कहता है, कोई गूढ़ार्थबोधक कहता है और कोई छायावाद की अनुगामिनी कहता है।"

संभवतः उसी वर्ष 'माधुरी' में अवध उपाध्याय ने 'रहस्यवाद' पर लेखमाला प्रकाशित करवाई और १९२८ ई० में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिंदी काव्य में रहस्यवाद' नाम से एक पुस्तक ही लिख दी।

इस प्रकार 'रहस्यवाद' छायावादी कविता की प्रवृत्ति-विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है।

आगे चलकर आलोचना-प्रत्यालोचना के सिलसिले में रहस्यवाद का विस्तार अतीत की काव्य-प्रवृत्तियों के लिए किया गया और आधुनिक

रहस्यवादी कवियों ने अपने पक्ष के समर्थन के लिए वेद, उपनिषद, शैवागम, तंत्र, सिद्ध, कवीर, मीरा आदि की रचनाओं में रहस्य-भावना खोज निकाली। प्राचीन साहित्य में रहस्यवाद की परंपरा दिखानेवालों में प्रसाद जी का नाम सबसे पहले लिया जाना चाहिए। उनका 'रहस्यवाद' निबंध हिंदी में संभवतः इस तरह का पहला प्रयत्न है; पीछे महादेवी वर्मा ने भी अनेक उदाहरणों से रहस्यवाद की प्राचीन परंपरा दिखलाई। इसके विपरीत शुक्ल जी ने अपने ढंग से रहस्यवाद को 'भारतीय काव्य परंपरा' से वाहर की वस्तु माना। यद्यपि जायसी को रहस्यवादी कहने की परंपरा उन्होंने ही कायम की; फिर भी वे 'रहस्यवाद' को मुख्यतः आधुनिक काव्य-प्रवृत्ति मानते थे। आज भी हिंदी में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान् हैं जो कवीर आदि प्राचीन संतों की कविता के लिए 'रहस्यवाद' संज्ञा को अनुपयुक्त मानते हैं।

इसलिए हर तरह की भ्रान्ति से वचने के लिए ऐतिहासिक दृष्टि से 'रहस्यवाद' को आधुनिक युग की काव्य-प्रवृत्ति कहना युक्तिसंगत है।

२.

रहस्य भावना मूलतः 'परोक्ष की जिज्ञासा' है। आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य के सामने प्रकृति के अनेक रहस्यों को उद्घाटित कर दिया। मनुष्य को विश्व की विराटता का अनुभव नये ढंग से हुआ। वैज्ञानिक आविष्कारों तथा इन आविष्कारों की सहायता से प्रकृति के क्षेत्र में किए गए नवीन अन्वेषणों ने आधुनिक शिक्षित युवक के मानसिक क्षितिज का विस्तार किया। मध्ययुगीन अंधविश्वासों का स्थान जिज्ञासापूर्ण विवेक ने लिया। उसे संपूर्ण जीवन और जगत् वदला हुआ लगा। चिर परिचित प्रकृति में उसे ऐसे वहुत-से अपरिचित और सर्वथा नवीन तत्वों का आभास हुआ। जो दशा घर की श्वासरोधी अभेद्य दीवारों से घिरी हुई वहू की वाहर के उन्मुक्त वातावरण में आने पर होती है, वही मानसिक स्थिति पुरानी रूढ़ियों में जकड़े हुए आधुनिक मनुष्य की इस नये वातावरण में हुई। उसका मन सहस्र जिज्ञासाओं से भर उठा।

'प्रभात संगीत' में संगृहीत रवीन्द्रनाथ की 'निर्झरेर स्वप्न भंग' कविता, जिससे वे अपनी काव्य-रचना का वास्तविक आरंभ मानते हैं, इस नवीन जीवन-दृष्टि (Vision) को भली भाँति व्यक्त करती है—

आजि ए प्रभाते रविर कर
केमने पशिलो प्राणेर पर
केमने पशिलो गुहार आँधारे प्रभात पाखिर गान ।
ना जानि केनो रे एतदिन परे जागिया उठिलो प्रान ।
जागिया उठिलो प्रान
ओरे उथलि उठिछे वारि,
ओरे प्राणेर वेदना प्राणेर आवेग रुधिया राखिते नारि ।
थरो थरो करि काँपिछे भूधर
शिला राशि राशि पड़िछे खसे
फूलिया फूलिया फेनिल सलिल
गरजि उठिछे दारुण रोषे
हेथाय होथाय पागलेर प्राय
घूरिया घूरिया मातिया बेड़ाय–
बाहिरिते चाय, देखिते ना पाय कोथाय कारार द्वार ।

यह छंद ही और है; रुद्ध हृदय का आकुल आवेग अद्‌भुत लय में बह निकला है; निर्भीक भाव से समस्त चारदीवारी को चुनौती देता हुआ यह विद्रोही हृदय बाह्य प्रकृति के रहस्यों को देखने के लिए आकुल हो उठा है।

'वीणा' के कवि सुमित्रानंदन पंत में यही जिज्ञासा शिशु-सुलभ सरलता के साथ प्रकट हुई है; यहाँ रवीन्द्रनाथ का-सा ओज और पौरुष नहीं। किन्तु . त की बाल-जिज्ञासा में नवीन दृश्य के प्रति जो विस्मय और कुतूहल का भाव दिखाई पड़ता है, वह भी उसी रहस्य-भावना का एक

रूप है। 'प्रथम रश्मि' की जिज्ञासा कुछ-कुछ इसी प्रकार की है जब कवि 'बाल-विहंगिनी' से पूछता है कि—

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि
तूने कैसे पहचाना ?

और नक्षत्रों से आता हुआ 'मौन निमंत्रण', भी उसी जिज्ञासा का दूसरा पहलू है, जिसमें नक्षत्रों के माध्यम से 'न जाने कौन' कवि-हृदय को नीरव निमंत्रण देता है।

कवि के लिए संपूर्ण प्रकृति गूढ़ संकेतों से भरी हुई प्रतीत होती है और आलोकपूर्ण नवीन ज्ञान का प्रभात उसे स्वप्न में चौंका जाता है; ये रहस्य-भावापन्न गान उसी संकेत और जागरण के प्रतीक हैं—

आज सोए खग को अज्ञात
स्वप्न में चौंका गई प्रभात
गूढ़ संकेतों से हिल पात
कह रहे अस्फुट बात
आज कवि के चिर चंचल प्राण
पा गए अपना गान !

कवि की यह रहस्यदर्शी दृष्टि

दूर, उन खेतों के उस पार
जहाँ तक गई नील झंकार

का भी पता पाना चाहती है

यह जो 'अज्ञात की ओर अनिश्चित संकेत्र मात्र' है अथवा 'प्रकृति के क्षेत्र के किसी अभिव्यक्त सौन्दर्य या माधुर्य से उठे हुए आह्लाद की अनुभूति की व्यंजना' है, उसी को आचार्य शुक्ल 'स्वाभाविक रहस्यवाद' मानते हैं। इसको समझाते हुए वे कहते हैं—"शिशिर के अंत में उठी हुई धूल छाई रहने के कारण किसी भारी मैदान के क्षितिज से मिले हुए छोर पर वृक्षावलि की जो धुँधली श्यामल रेखा दिखाई पड़ती है उसके उस पार किसी अज्ञात दूर देश का बहुत सुन्दर और मधुर आरोप स्वभावतः

आप से आप हो जाता है ।......विश्व की विशाल विभूति के भीतर न जाने कितने ऐसे दृश्य हमारी अन्तर्वृत्ति को रहस्योन्मुख करते हैं ।" (काव्य में रहस्यवाद) ।

यह जो अज्ञात और असीम की अभिलाषा है वह वस्तुतः ज्ञात सीमाओं के असंतोष से ही उत्पन्न हुई है और यह असंतोष तथा अभिलाषा केवल दिमाग़ी ऐय्याशी नहीं है; बल्कि इसका सामाजिक आधार है। यह असंतोष और महत्त्वाकांक्षा उस मध्यवर्गीय व्यक्ति की है जो मध्ययुगीन पारिवारिक और सामाजिक रूढ़ियों को तोड़कर उन्मुक्त वातावरण में साँस लेने के लिए आकुल हो रहा था। वह प्राचीन सीमाओं से तो परिचित था, लेकिन नवीन क्षितिज की कोई स्पष्ट रूपरेखा उसके मन में न थी। वह इतना ही जानता था कि इन सीमाओं से परे जो कुछ है वह असीम है। इसीलिए इन कविताओं में एक ओर 'असीम' से मिलने की तड़प है; तो दूसरी ओर कभी-कभी उस 'असीम' से मिल लेने का काल्पनिक सुख भी है; परंतु वस्तुतः वह 'असीम' आकांक्षा का ही विषय रहा ।

जब रवीन्द्र ने—

असीम से चाहे सीमार निबिड़ संग
सीमा चाय होते असीमेर माझे हारा ।

कहा और महादेवी वर्मा ने—

जब असीम से हो जायेगा
मेरी लघु सीमा का मेल
देखोगे तुम देव, अमरता
खेलेगी मिटने का खेल

गाया, तो प्रकारान्तर से दोनों ही व्यक्तियों ने अपनी पूर्ववर्ती मानसिक और सामाजिक सीमाओं को तोड़कर नवीन सीमाओं (जिसे भावुकतावश वे असीम कहते थे) के ही निर्माण अथवा प्राप्ति की इच्छा व्यक्त की थी ।

पुराने लोगों के लिए यह असीम मज़ाक का विषय था; लेकिन नवीन व्यक्ति उसको सर्वथा वास्तविक और अमिट समझता था क्योंकि उसके प्रति उसकी अभिलाषा सच्ची थी; इसीलिए वह उस सीमाहीनता का अनुभव भी कर लेता था। महादेवी जी को दृढ़ विश्वास है कि—

मैं अनन्त पथ में लिखती जो
सस्मित सपनों की बातें
उनको कभी न धो पायेंगी
अपने आँसू से रातें !

वस्तुतः यह युग ही ऐसा था 'जब सीमाहीनों से था मेरी लघुता का परिचय !'

मध्ययुगीन सामाजिक चारदीवारी की सीमाओं से आधुनिक कवि को इतना अधिक असंतोष था कि वह नवीन क्षेत्र में भी किसी प्रकार की सीमा को स्वीकार करने के लिए तैयार न था; वह सीमा-मात्र को अभिशाप समझने लगा। इसलिए उसने साहसपूर्वक अपने मन के लिए सीमाहीन अनंत आकाश माँगा और फिर उस आकाश में निरंतर उड़ते रहने का सुख और इसी तरह अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देने का वरदान चाहा। इसी आकांक्षा को महादेवी जी इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

द्रुत पंखों वाले मन को
तुम अंत हीन नभ होना।

और

आते जाते मिट जाऊँ
पाऊँ न पंथ की सीमा।

अपने प्रिय से मिलन की अपेक्षा सदैव विरह की ही याचना करना इसी आकांक्षा की प्रेम-संबंधी अभिव्यक्ति है। स्वच्छंद प्रेम की यह रहस्यवादी अभिव्यंजना है। जिस समाज में अभीष्ट प्रिय की वैध रीति से प्राप्ति असंभव अथवा कठिन हो, जिस सामाजिक व्यवस्था में अपने स्नेहपात्र को प्रत्यक्ष रीति से वरण करने में अपमान की आशंका हो, उसमें चिरविरह

की याचना के सिवा संतोष का और क्या उपाय है। इस तरह की रहस्य-वादी व्यथा वास्तविक व्यथा की ही आध्यात्मिक प्रतिच्छाया है।

असीम की तो कोई निश्चित सीमा नहीं, इसलिए उसका अज्ञात रहना स्वाभाविक ही है। आधुनिक रहस्यवादी कवियों ने उसके प्रति बराबर अनजान संकेत ही किए हैं; क्योंकि वस्तुतः आनेवाली दुनिया के बारे में उनकी जानकारी नहीं-बराबर थी। प्राचीन मर्यादाओं से तो वे पूर्ण परिचित थे; किन्तु बननेवाली नवीन मर्यादाओं की स्पष्ट जानकारी उन्हें न थी; नवीन समाजव्यवस्था उनके लिए अज्ञात ही नहीं, अव्यक्त भी थी। इसी को महादेवी जी ने 'अव्यक्त पूर्णता' कहा है और इसके विपरीत प्राचीन समाज-व्यवस्था को 'व्यक्त अपूर्णता'। फलतः उनके अनुसार 'अपनी व्यक्त अपूर्णता को अव्यक्त पूर्णता में मिटा देने की इच्छा' ही रहस्यवाद है।

लेकिन नवीन उनके लिए सर्वथा अज्ञात रहा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता; वस्तुतः उसकी रूपरेखा अस्पष्ट थी। नवीन का वे कुछ-कुछ अनुभव अवश्य करते थे, परंतु ठीक-ठीक उसे समझ नहीं पाते थे। यह संभवतः उनके भाववादी दृष्टि-कोण की सीमा थी। वे उसे पूरा-पूरा देख नहीं पाते थे, लेकिन उसकी झलक उन्हें अवश्य मिलती थी। इसी बात को वे प्रतीकात्मक ढंग से इस प्रकार कहते थे कि प्रिय तो 'आवरण' में आता है, उसकी तो केवल झलक भर दिखाई पड़ती है।

जब प्रसाद ने कहा कि—

शशि मुख पर घूँवट डाले
अंचल में दीप छिपाए
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आए

और महादेवी जी ने गाया कि—

रजत रश्मियों की छाया में धूमिल घन सा वह आता।

अथवा

मेरे प्रियतम को भाता है तम के परदे में आना।

तो प्राकारान्तर से उन्होंने वास्तविकता-संबंधी अपनी अस्पष्ट धारणा को ही व्यक्त किया।

रहस्यवादी काव्य में इस 'अस्पष्टता' का बड़ा प्रमुख स्थान है और इसे कवियों ने अनेक प्रकार के सुन्दर प्रतीकों के द्वारा व्यक्त किया है। इनके यहाँ 'स्वप्न' अथवा 'स्वप्न मिलन' का जो इतना अधिक उल्लेख मिलता है, वह इसी भावना का प्रतीत है। यदि किसी का प्रिय सपने में आता है तो किसी का प्रिय स्वयं सपना बनकर आता है।

धीरे-धीरे यह अस्पष्टता ही इन कवियों की सीमा हो गई और इससे उन्हें मोह हो गया। वे बराबर उसी मानसिक स्थिति का आह्वान करने लगे। स्वप्न इनके लिए वरदान हो गया और जागरण अभिशाप।

तत्कालीन समाज की पृष्ठभूमि में इस मानसिक स्थिति को समझा जा सकता है। कवि के चारो ओर उस समय जैसा कठोर वातावरण था, उसकी चेतना उसके लिए स्वभावतः दुःखदायी थी। लेकिन वस्तुस्थिति को भूलना जाग्रत स्थिति में संभव नहीं था; इसलिए वे जागरण की जगह स्वप्न का आवाहन करते थे। लेकिन स्वप्न की स्थिति स्थायी नहीं हो सकती; वस्तुस्थिति की चोट प्रायः स्वप्न-भंग कर देती है। इसलिए स्वप्न-भंग अथवा स्वप्न के बाद वाले जागरण को वह अभिशाप मानता है। इसी बात को महादेवी जी अपने ढंग से इस प्रकार कहती हैं—

वह सपना बन बन आता
जागृति में जाता लौट।

इसीलिए कुछ रहस्यवादी कवि वस्तुस्थिति को भूलने के लिए मद-होशी की-सी हालत में रहना चाहते हैं। यदि महादेवी का प्रिय सपना बनकर आता है और जागृति में लौट जाता है, तो प्रसाद का प्रिय फ़ारसी के उमर खय्याम, हाफ़िज़, रूमी वग़ैरह की तरह मादकता बनकर आता है और संज्ञा होकर चला जाता है—

मादकता से आए तुम
संज्ञा से चले गए थे।

कुछ रहस्यवादी कवियों के यहाँ इसीलिए 'मद' इस मन:स्थिति का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रतीक हो गया।

विस्मृति, अज्ञान, मौग्ध्य, चिर शिशुता, संवेदनहीनता और अचेतनता इसी मन:स्थिति के विभिन्न रूप तथा तर्क-संगत परिणतियाँ हैं। सामाजिक कटुता से बचने के लिए कुछ कवि सारा दोष बुद्धि और विवेक के सिर मढ़कर 'अज्ञान' को ही वरण कर लेना श्रेयस्कर समझते हैं; कुछ कवि इसी अज्ञता को तर्कसंगत परिणति पर ले जाकर चिरशिशु रहने का अभिनय करते हैं और कुछ लोग आत्मविस्मृत, संवेदनहीन तथा अचेतन हो जाना ही अच्छा मानते हैं; शिशुता को छोड़कर शेष सभी दशाएँ प्रसाद में यत्र-तत्र मिल जायँगी। बुद्धि अथवा इड़ा के विरोध के लिए उन्होंने पूरी कामायनी की रचना की क्योंकि उसी का दूसरा नाम 'चिन्ता' भी है।

बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिंता
तेरे हैं कितने नाम !
अरी पाप है तू, जा चल जा
यहाँ नहीं कुछ तेरा काम।

और इसी के बाद आधुनिक 'मनु' कहते हैं—

विस्मृति आ, अवसाद घेर ले
नीरवते बस चुप कर दे;
चेतनता चल जा जड़ता से
आज शून्य मेरा भर दे।

वस्तुतः बुद्धि-विरोधी कोरी सहृदयता अन्ततोगत्वा जड़ता, अचेतनता और संवेदनहीनता की ही ओर ले जाती है क्योंकि बुद्धि, चेतना और संवेदनशीलता तो बार-बार जगती की कटुता का अनुभव कराती रहती हैं। प्रसाद के ही शब्दों में—

मनु का मन था विकल हो उठा
संवेदन से खाकर चोट,

संवेदन ! जीवन जगती को
जो कटुता से देता घोट।

लेकिन मानसिक अस्पष्टता को जहाँ इस तर्कसंगत परिणति तक नहीं खींचा जाता, वहाँ रहस्यानुभूति की बड़ी ही सूक्ष्म और मार्मिक व्यंजना होती है। 'कामायनी' के 'काम' सर्ग में इस गहन मनःस्थिति का बड़ा ही सजीव चित्रण हुआ है—

उन नृत्य शिथिल निश्वासों की कितनी है मोहमयी माया
जिनसे समीर छनता छनत छनता बनता है प्राणों की छाया।
आकाश-रन्ध्र हैं पूरित से यह सृष्टि गहन सी होती है
आलोक सभी मूर्च्छित सोते यह आँख थकी सी रोती है।
सौन्दर्यमयी चंचल कृतियाँ बनकर रहस्य हैं नाच रहीं;
मेरी आँखों को रोक वहीं आगे बढ़ने में जाँच रहीं।
श्रुतियों में चुपके चुपके से कोई मधु-धारा घोल रहा
इस नीरवता के परदे में जैसे कोई कुछ बोल रहा।
है स्पर्श मलय के झिलमिल सा, संज्ञा को और सुलाता है
फुलकित हो आँखें बंद किए तन्द्रा को पास बुलाता है।
व्रीड़ा है यह चंचल कितनी विभ्रम से घूँघट खींच रही;
छिपने पर स्वयं मृदुल कर से क्यों मेरी आँखें मीच रही !
उठती है किरनों के ऊपर कोमल किसलय के छाजन सी
स्वर का मधु निस्वन रन्ध्रों में जैसे कुछ दूर बजे वंसी।

मनोलोक के इस काव्यात्मक वातावरण को पढ़ते पढ़ते कबीर आदि मध्य युगीन संतों की वे पंक्तियाँ याद हो आती हैं जिनमें ब्रह्मरन्ध्र में निःस्वन गूँजते हुए अनहद नाद और गरजते हुए गगन का चित्रण है। लेकिन जो सूक्ष्म सौन्दर्य प्रसाद की इन पंक्तियों में है, वह कबीर आदि के साधनात्मक प्रतीकोंवाले स्थूल वर्णन में कहाँ !

अपनी इस अस्पष्टता के बावजूद रहस्य-भावना आगे बढ़कर उस रहस्यमय तत्व के स्वरूप की भी कल्पना करती है। निःसन्देह विस्मय, औत्सुक्य और अभिलाष में भी एक प्रकार का सुख है; परंतु मनुष्य इतने ही से संतुष्ट नहीं होता। वह मन ही मन उस वस्तु का रूप भी निश्चित कर लेता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "अनिर्दिष्ट और धुँधली झलक या भावना में भी एक विशेष प्रकार का आकर्षण होता है जो स्निग्ध विस्मय, औत्सुक्य या अभिलाष उत्पन्न करता है। घने कुहरे या जाली के बीच किसी के रूप-माधुर्य की हलकी-सी झलक मात्र पाकर हम केवल उत्सुक होंगे। इसी उत्सुकता की सतत प्रेरणा उसका रूप निर्दिष्ट करने के लिए हमारी कल्पना प्रवृत्त रहा करेगी।" (काव्य में रहस्यवाद)।

स्वाभाविक है कि कुतूहल उत्पन्न करनेवाले उस रहस्यात्मक तत्त्व का स्वरूप जिज्ञासु के मन का ही प्रक्षेपण हो। भाववादी व्यक्ति प्रायः बाह्यजगत् में भी अपने ही आन्तरिक जगत् की छाया देखता है; यहाँ तक कि भाववादी कभी-कभी बाह्यजगत् को अपने ही मनोजगत् की अभिव्यक्ति अथवा उसका प्रसार मानता है। आत्मप्रसार की यह मनोवृत्ति उस युग के प्रायः सभी विचारकों और कवियों में दिखाई पड़ती है। वह युग व्यक्तिवाद के उत्थान का था। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को ही सर्वोपरि समझता था। उपनिषदों के 'अहं ब्रह्मास्मि' का पुनरुद्धार करके इस सूत्र के द्वारा आधुनिक विचारकों ने अपने व्यक्तिवाद की ही आभिव्यक्ति की। उस समय स्वामी विवेकानन्द तथा रामतीर्थ ने वेदान्त की आधुनिक व्याख्या करते हुए पुराने शब्दों के आवरण में आधुनिक युग के व्यक्ति-महत्त्व का प्रतिपादन किया है। संपूर्ण संसार के साथ अपना तादात्म्य करके अपने अहं को उसका प्रतीक कहना शक्तिशाली व्यक्तित्व के उत्थान का ही सूचक है।

आत्मप्रसार की इस महत्त्वाकांक्षा को अंग्रेज कवि अवरक्राम्बे ने 'सेल ऑव सेंट टामस' कविता की इन पंक्तियों में बहुत अच्छी तरह व्यक्त किया है—"मनुष्य उतना ही बड़ा हो सकता है। जितना बड़ा उसका अभिलाष होगा। अतः आत्मदृष्टि उतनी ही दूर तक बँधी न रखो जितनी

दूर तक ज्ञान और वुद्धि के दीपक का प्रकाश पहुँचता है। अपनी लालसा को अज्ञात के अन्धकार की ओर छानबीन करने के लिए बढ़ाओ। संभव को जानकर उसके बाहर अनहोनी बातों और असंभव लक्ष्यों की ओर बढ़ो। धीरे-धीरे तुम देखोगे कि तुम्हारा ज्ञात की लालसा का क्षेत्र भी आप से आप वैसा ही व्यापक हो जायगा जैसा आत्मा का।" ('काव्य में रहस्यवाद' में शुक्ल जी द्वारा अनूदित और उद्धृत)।

इस तरह आधुनिक रहस्यवादी कवि ने शेष प्रकृति में अपने स्फीत अहं को प्रतिष्ठित किया और इसी को उसने परम सत्ता अथवा परम चेतना के नाम से अभिहित किया। प्रसाद जी ने इसी को 'विश्व सुन्दरी प्रकृति में चेतनता का आरोप' कहा और महादेवी जी ने 'अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व के आरोपण' की अभिधा दी।

शेष प्रकृति के विभिन्न कार्यों और रूपों में निहित किसी एक कारण का पता लगाना मनुष्य के वैज्ञानिक विवेक का ही सूचक है। विज्ञान ने यदि एक ओर संपूर्ण प्राकृतिक शक्तियों के आन्तरिक संबंधों की खोज करके किसी एक नियम की स्थापना करने का प्रयत्न किया तो कवियों ने भी रागात्मक ढंग से एक प्रकृति-नियंता कारण को ढूँढ़ लेना चाहा। जब प्रसाद जी के मनु ने जिज्ञासा प्रकट की कि—

तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए!

तो उन्होंने उसी मूल कारण की ओर संकेत किया; परंतु उसे ठीक-ठीक न जान सकने के कारण यह भी कहा—

हे अनन्त रमणीय! कौन तुम
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो? क्या हो? इसका तो
भार विचार न सह सकता।

फिर भी उस 'अनंत रमणीय' की विराटता का अनुभव उन्हें अवश्य हुआ और उन्हीं के शब्दों में—

हे विराट ! हे विश्वदेव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान।

इस तथ्य को लक्ष्य करते हुए आचार्य शुक्ल अपने 'इतिहास' (पृ० ६५०) में लिखते हैं कि ये कवि 'भक्ति क्षेत्र में उपास्य की एकदेशीय या धर्म-विशेष में प्रतिष्ठित-भावना के स्थान पर **सार्वभौम भावना** की ओर बढ़ रहे थे जिसमें सुन्दर रहस्यात्मक संकेत भी रहते थे।' कवि अपनी कल्पना के द्वारा जब 'प्रकृति के बीच किसी वस्तु के गूढ़ और अगूढ़ संबंध-प्रसार का चित्रण' करता है; अथवा 'जगत् के अनंत रूपों और व्यापारों के बीच फैले हुए उन मोटे और महीन संबंध सूत्रों की झलक-सी दिखाकर नरसत्ता के सूनेपन का भाव दूर करने और अखिल सत्ता के एकत्व की आनंदमयी भावना जगाकर हमारे हृदय का बंधन खोलने' की कोशिश करता है तो वस्तुतः वह उस **सार्वभौम भावना** को ही व्यक्त करता है।

यह सार्वभौम भावना आधुनिक विश्ववाद की ही आध्यात्मिक छाया है। आधुनिक युग में वैज्ञानिक आविष्कारों ने पहली बार मनुष्य के ज्ञात जगत् की सीमाओं का विस्तार किया और फिर संसार भर के मनुष्यों को एक दूसरे के संपर्क में ला दिया। इससे पहले भी संसार, विश्व, अखिल महिमंडल आदि संज्ञाओं का प्रयोग होता था लेकिन इन संज्ञाओं की सीमाएँ प्रायः अपने देश, द्वीप, महाद्वीप अथवा कुछ एक पड़ोसी देशों तक ही थीं। रेल, जहाज, वायुयान आदि ने विभिन्न देशों, भू-खंडों, समुद्रों आदि का पता लगाकर संसार की विराटता का बोध कराया; फिर डाक, तार, बेतार के तार, प्रेस आदि ने एक देश के भीतर तथा देश-देश के बीच बिखरे हुए लोगों में संपर्क स्थापित करके उनमें एकता और निकटता की भावना जगाई। इस तरह आधुनिक युग में राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का अभ्युदय हुआ और लोग हर बात को राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में रखकर सोचने के अभ्यस्त हो चले। भावनाओं को विश्ववाद का अनंत आकाश मिला।

ऐसी स्थिति में आधुनिक कवि के लिए स्वाभाविक था कि वह जगत् और प्रकृति के खंडों में एक सार्वभौम तत्व का अनुभव करे।

लेकिन अच्छी तरह सोचने पर पता चलेगा कि इस सार्वभौम भावना का भी संबंध उसी व्यक्तिवाद से था। वस्तुतः यह सार्वभौम भावना भाववाद पर ही प्रतिष्ठित थी; इसीलिए उसे तत्कालीन व्यक्तिवाद का ही प्रक्षेपण समझना चाहिए। बहिर्जगत् का 'एक' अन्तर्जगत् के 'एक' की ही विराट् छाया है। रवीन्द्रनाथ जब यह कहते हैं कि अखण्ड 'एक' की मूर्ति, किसी आकार में भी क्यों न रहे, 'असीम' को ही प्रकाश करती है; तो वे प्रकारान्तर से व्यक्ति मानव को ही गौरव देते हैं। कहना वे यही चाहते हैं कि व्यक्ति मानव उस अखण्ड 'एक' का ही एक रूप है इसलिए वह स्वयं भी अखंड 'एक' और 'असीम' है। महादेवी जी जब गाती हैं कि—

बीन-बंदी तार की झंकार है आकाशचारी
धूलि के इस मलिन दीपक से बँधा है तिमिर-हारी

तो वे व्यक्तिगत आकार में निहित समष्टिगत एक को प्रकाशित करती हैं। और रवीन्द्रनाथ इसी को कविता का उद्देश्य मानते थे। 'मानव-धर्म', 'कला क्या है', 'साहित्य का तात्पर्य' आदि निबंधों में उन्होंने अंग्रेज़ी के 'कैपिटल एम' वाले जिस 'मैन' को साहित्य का विषय माना है, वह सामान्य व्यक्ति मानव का ही भावना-स्फीत तथा कल्पना-रंजित विशाल रूप है; इसीलिए वे व्यक्तिगत 'एक' के भीतर से समष्टिगत 'एक' की अभिव्यक्ति को ही साहित्य का लक्ष्य मानते थे।

रहस्यवादी कविताओं में जो उस परम प्रिय से मिलने की बात बार-बार कही जाती है, वह इसी सार्वभौम भावना का काव्यात्मक रूप है। आचार्य शुक्ल जब कविता का कार्य 'शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह', बतलाते हैं, तो अपने ढंग से उस युग में व्याप्त उस सार्वभौम भावना को ही प्रतिध्वनित करते हैं।

इस तरह सामाजिक पृष्ठभूमि पर रखकर देखने से रहस्यवादी काव्य की संपूर्ण परोक्षानुभूति प्रत्यक्षानुभूति ही सिद्ध होगी। आचार्य शुक्ल ने इस रहस्य का उद्घाटन काफ़ी पहले कर दिया था : "वास्तव में इसी जगत् के सुख-सौन्दर्य की आसक्ति या प्रेम है जो संचारी के रूप में आशा या

अभिलाषा का उन्मेष करके, इस सुख-सौन्दर्य को किसी अज्ञात या अध्यात्म क्षेत्र (लोकान्तर, अगोचर, अतीत, भविष्य आदि) में ले जाकर पूर्ण करने की ओर प्रवृत्त करता है।....'अज्ञात की लालसा' का अर्थ वस्तुतः 'ज्ञात की लालसा' है।" (काव्य में रहस्यवाद, पृ० ८५)।

लेकिन रहस्यवादी कवि इस प्रत्यक्ष जगत् के द्वारा जो सदैव परोक्ष की ओर संकेत करता रहता है, उसका अर्थ यह है कि वह जगत् को उस परोक्ष सत्ता का उपलक्षण अथवा प्रतीक-मात्र मानता है। रहस्यवादी कवि के लिए प्रकृति और मानवजगत् की सार्थकता अपने आप में नहीं; बल्कि उस सत्य में है जिसकी ओर वे संकेत करते हैं। फलतः रहस्यवादी कवि अनिवार्यतः प्रतीकवादी होता है। उसके लिए संसार की सभी वस्तुएँ प्रतीक हैं। इस धारणा को वह तर्कसंगत परिणति तक ले जाकर इस प्रकार कहता है कि उस परमतत्व को प्रतीकों के ही माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है। चूँकि वह संकेत मात्र है, पूर्णतः स्पष्ट नहीं है, उसकी झलक भर दिखाई पड़ती है; इसलिए उसकी ठीक-ठीक अभिधा नहीं हो सकी। जिसकी हमें झलक भर मिलती है, उसे हम केवल झलक के रूप में ही जान और कह सकते हैं। जिसका हमें संकेत मात्र मिलता है, उसकी ओर हम संकेत-मात्र कर सकते हैं। प्रतीक ऐसे ही शब्द हैं जो अपने अभिधार्थ से अतिरिक्त अर्थ व्यंजित करते हैं। जो सर्वथा अनिर्वचनीय है, उसे केवल व्यंजित किया जा सकता है। इसीलिए रहस्यवाद व्यंजना-प्रधान अथवा प्रतीकवादी काव्य होता है। जब रहस्य-प्रतीक अधिक सांकेतिक हो जाते हैं, तो रचना प्रायः अबूझ हो जाती है।

रहस्यवादी कविता के प्रतीक प्रायः 'आवरण', 'अस्पष्टता', 'स्वप्न-मिलन', 'आत्म-विस्मृति', अज्ञात-आकर्षण, उन्मत्त खोज आदि के द्योतक होते हैं। आधुनिक रहस्यवादियों ने प्राचीन प्रतीकों के अतिरिक्त अज्ञात आकर्षणवाले प्रतीक विशेष रूप से दिये। समुद्र की ओर अनजाने आकर्षण से दौड़ती हुई नदी का वर्णन बहुतों ने किया है। यदि पंत जी नदी से पूछते हैं कि:—

माँ उसको किसने बतलाया उस अनंत का पथ अज्ञात ? तो प्रसाद जी भी 'गंगा' को देखकर सोचते है कि वह जो समुद्र से मिलना चाहती है, वह वस्तुत:—

विश्राम माँगती अपना
जिसका देखा था सपना।

३.

हिंदी साहित्य में रहस्यवादी कविता का ऐतिहासिक महत्त्व है। इसने मनुष्य में आत्मप्रसार तथा आत्म-विश्वास की भावना जगाई; प्राचीनता की कारा में घिरे हुए मन को उन्मुक्त असीम वातावरण दिया; विश्वमानवतावाद की सार्वभौम भावना उत्पन्न की, स्थूल तथ्यों को भेदकर जीवन-सत्य को देखने की अन्तर्दृष्टि दी; और गहन अनुभूति के क्षणों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण किया। जिस समय द्विवेदी-युग की कविता स्थूल तथ्यों के संग्रह और कोरे वस्तुवर्णन में व्यस्त थी, रहस्यवाद के आविर्भाव ने काव्य में जीवन के मौलिक सत्यों और रहस्यों के प्रति जिज्ञासा का भाव प्रतिष्ठित किया। जीवन की क्षुद्रताओं से मनुष्य को ऊपर उठाकर उसे उच्च-भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय रहस्यवाद को ही है। द्विवेदी युग के सुधारवाद की अपेक्षा यह आध्यात्मिकता कितनी ऊँची और रागपूर्ण थी इसका निर्णय दोनों युगों की किन्हीं दो कविताओं की तुलना से सहज ही हो सकता है।

लेकिन रहस्यवादी कविता की अपनी सीमाएँ भी हैं। रहस्यवादी दृष्टिकोण से जीवन और जगत् की समस्याओं को हल करना तो दूर, उन्हें ठीक से समझना भी असंभव है। रहस्यवाद ने सामाजिक समस्याओं को रहस्य बना दिया और फिर उन्हें रहस्य मानकर उनकी रहस्यमयता में ही आनंद लेने का पाठ पढ़ाया। रहस्यवादियों का विश्वास था कि परम सत्य अज्ञात और अज्ञेय है और उसे ऐसा ही रहने देना चाहिए क्योंकि उसकी अज्ञेयता में ही आनंद है; उसे जान लेने पर तो सारा आनंद नष्ट हो जायगा। इस तर्क-प्रणाली के फलस्वरूप अबद्धिवाद, श्रद्धावाद, आत्म-

विस्मृति, अचेतनता आदि प्रवृत्तियों का प्रचार हुआ और फिर रहस्य-लोक में पलायन करने के सिवा और कोई रास्ता नहीं रहा।

रहस्यवाद के प्रायः सभी रूप अकेली 'कामायनी' में ही अच्छी तरह मिल जायँगे। नवीन औद्योगिक व्यवस्था तथा विज्ञान से घबड़ाए हुए मनु को भगाकर श्रद्धा जगत्-प्रपंच से दूर कैलास-शिखर पर ले जाती है। कोरी भावुकता मनुष्य को इसी तरह पलायन और एकान्तवास की ओर घसीटती है; वह परिस्थितियों को समझने और समझकर संघर्ष करन की प्रेरणा नहीं दे सकती। यही नहीं, समस्याओं का हल वह शुद्ध भाव-लोक में ही करके संतुष्ट हो लेती है; जैसे श्रद्धा ने आकाश में बिखरे हुए ज्ञान, इच्छा और क्रिया के त्रिपुर को अपनी स्मिति-मात्र से मिला दिया। बात यह है कि यथार्थ जगत् में तो समस्याओं का समाधान कठिन है, किन्तु भावजगत् में यह सब काम एक क्षण में हो जाता है। और इसके बाद तो बस आनंद-विह्वल शिव के ताण्डव-नृत्य का दर्शन ही शेष है। मन ही मन समस्याओं को सुलझाकर आनंद से नाच उठना कितना सहज है।

४.

रहस्यवाद पर विचार करते हुए विद्वानों ने प्रायः वेद-उपनिषद से लेकर आधुनिक युग के रहस्यवादी कवियों का हवाला दिया है और सभी युगों की रहस्य-भावना को एक-सी मानकर विवेचन किया है। यदि महादेवी वर्मा ने 'रहस्यवाद'[१] पर लिखते हुए आधुनिक रहस्यवाद की कड़ी वेद-उपनिषद, कबीर, जायसी, मीरा आदि से जोड़ी है तो पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी कबीर की रहस्य-भावना को समझाने के लिए रवीन्द्र-नाथ के विचारों और कविताओं को निर्विशेष भाव से उद्धृत किया है। इस तरह उन्होंने कबीर और रवीन्द्रनाथ की रहस्य-भावना को एक ही माना है। उधर महादेवी जी भी आधुनिक रहस्यवाद को संपूर्ण रहस्य-परंपरा का सम्मिश्रण मानते हुए कहती हैं कि "उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छाया मात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से

---

१. देखिए **'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', इंडियन प्रेस, इलाहाबाद १९४४ ई०**

तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव सूत्र में बाँधकर निराले स्नेह-संबंध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।" उनके अनुसार आधुनिक रहस्यवाद इसी बात में पूर्ववर्ती रहस्य-काव्यों से भिन्न है कि इसमें उन सबकी विशेषताओं के सम्मिश्रण से एक नवीन भावना तैयार हो गई।

विचारों को समाज से परे रखकर जब उनका इतिहास लिखा जाता है तो इसी तरह की स्थापनाएँ की जाती हैं जिनमें युग-युगान्तर में बिना किसी भेद और अंतर के एक ही बात आद्योपान्त व्याप्त दिखाई पड़ती है। इसीलिए रहस्य-भावना की परंपरा को भी समाज से अलग करके देखने से यही प्रतीत होता है कि वेद-उपनिषद से लेकर आज तक सर्वत्र एक ही प्रकार की जिज्ञासा, उत्सुकता, असीम की कल्पना, असीम-ससीम का मिलन, परम सत्ता की रहस्यमयता और अस्पष्टता आदि बातें मिलती हैं। लेकिन इन भावनाओं को सामाजिक परिदृश्य में रखकर देखते ही विभिन्न युगों की रहस्य भावनाओं की विशेषताएँ स्पष्ट होने लगती हैं।

सबसे पहले प्राकृतिक रहस्य-भावना को ही लें। प्राकृतिक शक्तियों में किसी एक परम शक्ति से अनुशासित तथा आकर्षित होने का भाव वेद और आधुनिक रहस्यवादी कवियों में समान रूप से मिलता है; लेकिन मध्ययुगीन संत कबीर में नहीं मिलता। जायसी ने उस परमसत्ता के विरह में अखिल प्रकृति को जलते हुए तो दिखलाया किन्तु उनमें सहज आकांक्षा और उत्सुकता अनुभव नहीं की है। इसका कारण स्पष्ट है: मध्ययुगीन मानव के लिए प्रकृति के रहस्यों में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन वैदिक और आधुनिक मानव के लिए प्रकृति का जैसे नया-नया परिचय प्राप्त हुआ था। वैदिक मानव ने तो प्रकृति के रहस्योद्घाटन और संघर्ष से ही अपना जीवन प्रारंभ किया और वैदिक युग के बाद इतने बड़े पैमाने पर प्रकृति के साथ संघर्ष आधुनिक वैज्ञानिक युग में ही आरंभ हुआ। इन दोनों युगों में मनुष्य ने प्रकृति के साथ संघर्ष इसीलिए किया

कि उसके वन्य रूप पर विजय प्राप्त करके फिर से उसके साथ पहले से अधिक अच्छा रागात्मक संबंध स्थापित किया जा सके। यह तो हुई दोनों युगों की सामान्य बात।

लेकिन वैदिक युग और आधुनिक युग में प्रकृति और मानव के संबंध एक से नहीं हैं। प्रकृति के प्रति वैदिक मानव में जो सहज कुतूहल और किंचित् भय-मिश्रित औत्सुक्य था वह आधुनिक मानव में नहीं है। आधुनिक मानव के कुतूहल और औत्सुक्य में अपेक्षाकृत अधिक गूढ़ता और सूक्ष्मता है; क्योंकि आधुनिक मानव के लिए प्रकृति अधिक ज्ञात हो गई।

यदि अथर्व का गायक नदी को देखकर पूछ बैठता है कि—

यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।

अर्थात् ये सरिताएँ जहाँ पहुँचने की अभिलाषा से चली जा रही हैं उस परम आश्रय को बताओ; वह कौन है?

तो आधुनिक युग के प्रसाद जी इसी को थोड़ा और गूढ़ बनाकर कहते हैं कि इस नदी ने जिस सागर को सपने में देखा था उसी में विश्राम माँगती है।

विश्राम माँगती अपना
जिसका देखा था सपना।

इतना ही नहीं, आधुनिक कवि ने प्रकृति में जो अपने लिए होनेवाले विविध गूढ़ संकेतों की कल्पना कर ली, वह आदिम युग के सरल गायकों के लिए संभव नहीं था—वे संभवतः न तो इतने व्यक्तिवादी हो पाये थे और न इतने कल्पनाजीवी ही।

पंत जी को नक्षत्रों से जो मौन निमंत्रण देता है, तड़ित से जो इंगित करता है, सौरभ से जो संदेशा भेजता है, लहरों के कर उठाकर जो बुलाता है, खद्योतों से जो पथ दिखलाता है, ओस ढुलकाकर जो दृग खींचता है और स्वप्न में जो छाया-जग में फिरता है वह 'कोई' वैदिक 'कोई' से कहीं अधिक रहस्यमय है और अधिक सूक्ष्म ढंग से संकेत करनेवाला है। उसका निमंत्रण ही नहीं, इंगित, संदेशा, आह्वान आदि

सब कुछ 'मौन' है। व्यवहार की यह बारीकी अत्यंत विकसित सभ्यता में ही संभव है। ध्यान खींचने के लिए ओस में ढुलक जाने की कल्पना तो वैदिक युग का मानव नहीं ही कर सकता था लेकिन आधुनिक कवि के यहाँ—

न जाने, ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन!

आधुनिक युग की इस कोमलता के लिए वैदिक युग के प्राकृतिक प्रतीक कहीं अधिक विराट् और प्रचंड हैं क्योंकि उस समय प्रकृति भी अपने आदिम, दुर्द्धर्ष और प्रचंड रूप में थी।

इसी तरह सार्वभौम भावना के बारे में भी इन युगों का अंतर देखा जा सकता है। आधुनिक कवियों ने उपनिषद के 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' सूत्र को इतना दुहराया कि आलोचकों ने प्रायः आधुनिक सार्वभौम भावना को उपनिषद-युग का ही पुनरुत्थान समझ लिया। लेकिन थोड़ा-सा अध्ययन करने से ही स्पष्ट हो जायगा कि स्वामी विवेकानंद और रवीन्द्रनाथ के 'विश्व मानव' की विराट् कल्पना के सामने उपनिषद का 'ब्रह्म' और 'भूमा' अधिक सूक्ष्म, अधिक वायवी और अधिक स्थिर है। उपनिषद का विराट् तत्व प्रायः आनंदमय है; जब कि विवेकानंद और रवीन्द्रनाथ का विराट् तत्व शक्तिपुंज और ओजपूर्ण है।

इतना ही नहीं, रवीन्द्रनाथ ने तो परमतत्व को, उपनिषदों से आगे बढ़कर, गतिमय बखान किया है। एक स्थल पर उन्होंने ईश्वर को 'चिर चंचल' और मानव को 'चंचलेर सहचर' कहा है। परमतत्व की गत्यात्मकता की बात वही कवि कह सकता है जिसका युग वैज्ञानिक विकास के कारण अति गतिमय तथा शीघ्र-शीघ्र होनेवाले परिवर्तनों से भरा हो। अपेक्षाकृत स्थिर और कम परिवर्तनशील कृषि-युग के उपनिषद 'यत्किंच जगत्यां जगत्' कहते हुए भी इस प्रकार न तो जगत् की गत्यात्मकता की बात कर सकते थे और न ब्रह्म की ही।

यही बात परमतत्व की विराटता के बारे में भी लागू होती है। आधुनिक युग की-सी विराट् कल्पना न तो उपनिषद के सांकेतिक सूत्रों

में मिलती है और न कबीर के 'पिंड' में से व्यक्त होनेवाले 'ब्रह्माण्ड' और शून्य में और न जायसी के उस 'पारस रूप' में ही जो पद्मावती के रूप के माध्यम से रह रहकर अपने विश्वव्यापी अलौकिक रूप की झलक दिखा जाया करता है। इसका मुख्य कारण यही है कि आधुनिक युग में विश्व की व्यापकता तथा विभिन्न देशों में रहनेवाली विशाल मानव-जाति की भावात्मक एकता का अनुभव जिस प्रकार किया गया, पहले कभी नहीं किया गया। सूर्य चंद्र को उस परम पुरुष की आँखें तो पहले भी कहा गया, किन्तु ऐसे पुरुष की जिसकी 'वसुधा चरणचिह्न-सी बनकर यहीं पड़ी रह जायगी' जैसी विराट् कल्पना आधुनिक कवि प्रसाद ही कर सकते थे।

इसी प्रकार प्राप्तव्य परमतत्व की रहस्यमयता और अस्पष्टता के विषय में भी आधुनिक कवि पूर्ववर्ती कवियों से आगे बढ़ा हुआ है। वैदिक गायक के लिए परमशक्ति के ऊपर कोई आवरण नहीं है; लेकिन उपनिषद में सत्य का मुख हिरण्मय पात्र से ढका हुआ कहा गया है; फिर भी उपनिषद का जिज्ञासु उस पिहान को हटाकर सत्य को देखने के लिए प्रयत्नशील है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

कबीर तक आते-आते वह 'शून्य' हो गया; उसकी सूक्ष्मता इतनी बढ़ गई कि वह अनुभवैकगम्य रह गया और साथ ही अनिर्वचनीय भी। जायसी के यहाँ भी उसका केवल प्रतिबिंब ही देखा जा सकता है, स्वयं उसे नहीं; और उस प्रतिबिम्ब को भी पकड़ा नहीं जा सकता।

सरग आइ धरती महँ छावा।
रहा धरति पै धरत न आवा॥

लेकिन आधुनिक कवि का प्रिय उस धूमिल घन के समान है जो रजत रश्मियों की ाया में आता है। एक तो वह स्वयं धूमिल घन है, दूसरे रश्मियों की छाया में छिपकर आता है। ऐसा लगता है कि अपने युग की वास्तविकता को उपनिषद के कवि ने जितने स्पष्ट रूप से समझा था,

उससे कम स्पष्ट रूप में कबीर, जायसी आदि संतों ने समझा और आधुनिक युग के कवियों ने उनसे भी कम स्पष्ट रूप में समझा। इसका एक कारण तो यह है कि वास्तविकता क्रमशः अधिक जटिल और गहन होती गई और दूसरा शायद यह भी है कि इन सभी भाववादी कवियों का दृष्टिकोण भी क्रमशः वस्तुनिष्ठ से अत्यंत व्यक्तिनिष्ठता की ओर अग्रसर होता चला गया।

इसी प्रकार अपनी सीमा के बंधन से छुटकारा पाने की जितनी अधिक तड़प आधुनिक रहस्यवाद में दिखाई पड़ती है, उससे कुछ कम कबीर आदि मध्ययुगीन संतों में मिलती है और वेदोपनिषद में तो बहुत ही कम दिखाई पड़ती है। इसका कारण शायद यह है कि जात-पाँत आदि की सामाजिक रूढ़ि जब जितनी अधिक कड़ी रही, उस युग में सीमा से मुक्त होने की आकांक्षा भी उसी मात्रा में व्यक्त हुई। ऋक् का गायक अपने बंधन का आभास देता हुआ बस इतना ही कहता है—

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।

अर्थात् हे वरणीय, मैं दर्शनाकांक्षी होकर तुझसे अपना वह दोष पूछता हूँ जिसके कारण ही मैं यहाँ बँधा हूँ। मैं दर्शन का अभिलाषी जिज्ञासु तेरे समीप आया हूँ।

लेकिन कबीर जिस आकुलता के साथ 'हद्द' और 'बेहद्द' दोनों से परे किसी आनंद-लोक में जाना चाहते हैं, वह अभूतपूर्व है। कबीर जिस कल्पना-लोक में निवास करते हैं, उसका वर्णन उन्हीं के शब्दों में—

हम वासी उस देश के, जहँ बारह मास वसंत।
नीझर झरै महा अमी, भींजत हैं सब संत॥
हम वासी उस देश के, जहँ जाति बरन कुल नाहिं।
शब्द मिलावा होइ रहा, देह मिलावा नाहिं॥

और आधनिक कवि तो और भी अधिक विद्रोही हो उठा और अपनी चंचलता के मारे चिल्ला उठता है—'आमि सुदुरेर पियासी!' वह न

जाने क्या चाहता है, उसकी प्यास किस दूर देश की है ! सीमा के प्रति इतना विद्रोह और असीम के लिए इतनी तड़प—आधुनिक असंतुष्ट हृदय के लिए ही संभव है ! कबीर के यहाँ स्पष्ट विरह-वेदना है, लेकिन यहाँ गूढ़ गहन असंतोष है जिसमें आँसू कम ढुलकते हैं, अस्पष्ट अन्तर्दाह अधिक होता है।

इसी प्रकार प्रतीकों के प्रयोग में भी आधुनिक रहस्यवाद बहुत अधिक समृद्ध है। आधुनिक युग कल्पना-वैभव का है और स्वच्छंद कल्पना के द्वारा आधुनिक रहस्यवादी कवियों ने जितने प्रकार के अप्रस्तुत विधान की सृष्टि की, वह उपनिषदों और संतों के यहाँ दुर्लभ है।

इस तरह विचार करने से रहस्य-भावना की परंपरा के विभिन्न युगों की और भी निजी विशेषताओं का पता चल सकता है और उनकी तुलना में आधुनिक रहस्यवाद के अन्य पक्षों पर प्रकाश पड़ सकता है।

प्रगतिवाद

१.

छायावाद के गर्भ से सन् '३० के आसपास नवीन सामाजिक चेतना से युक्त जिस साहित्य-धारा का जन्म हुआ उसे सन् '३६ में प्रगतिशील साहित्य अथवा प्रगतिवाद की संज्ञा दी गई और तब से इस नाम के औचित्य-अनौचित्य को लेकर काफ़ी वाद-विवाद होने के बावजूद छायावाद के बाद की प्रधान साहित्य-धारा को प्रगतिवाद नाम से ही पुकारा जाता है।

कुछ लोग प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य में भेद करते हैं। उनके अनुसार मार्क्सीय सौन्दर्य-शास्त्र का नाम प्रगतिवाद है और आदि काल से लेकर अब तक की समस्त साहित्य-परंपरा प्रगतिशील साहित्य है। इस तरह वे केवल छायावाद के बाद की साहित्यिक प्रवृत्ति के लिए 'प्रगतिशील साहित्य' नाम का प्रयोग अनुचित मानते हैं।

दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं जो मार्क्सवादी साहित्य-सिद्धान्त तथा इस सिद्धान्त के अनुसार रचे हुए साहित्य को प्रगतिवाद कहना चाहते हैं और छायावाद के बाद की व्यापक सामाजिक चेतनावाले समस्त साहित्य को 'प्रगतिशील साहित्य' कहते हैं जिसमें विभिन्न राजनीतिक मतों के बावजूद एक सामान्य मानवतावादी भावना व्याप्त है। इस तरह ये प्रगतिवाद को संकीर्ण और साम्प्रदायिक बतलाते हैं तथा 'प्रगतिशील साहित्य' को व्यापक और उदार। उनके अनुसार 'प्रगतिशील लेखक संघ' द्वारा निर्धारित और प्रचारित साहित्य प्रगतिवाद है और बाकी प्रगतिशील साहित्य।

लेकिन जिस तरह छायावाद और छायावादी कविता भिन्न नहीं हैं, उसी तरह प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य भी भिन्न नहीं हैं। 'वाद' की अपेक्षा 'शील' को अधिक अच्छा और उदार समझकर इन दोनों में भेद करना कोरा बुद्धि-विलास है और कुछ लोगों की इस मान्यता के पीछे प्रगतिशील साहित्य का प्रच्छन्न विरोध-भाव छिपा है।

जिस तरह छायावादी कवियों में एक को अधिक छायावादी तथा दूसरे को कम छायावादी अथवा एक को शुद्ध छायावादी तथा औरों को मिश्रित कहने की ज़ोर-शोर रहा है, उसी तरह प्रगतिवाद में भी किसी को शुद्ध प्रगतिवादी अथवा अधिक प्रगतिशील और दूसरों को कम प्रगतिशील कहने की हवा है। लेकिन इस वाद-विवाद के कारण यदि छायावाद में भेद नहीं किया गया तो प्रगतिवाद में भी भेद करने की ज़रूरत नहीं है।

'प्रगतिशील साहित्य' अंग्रेजी के 'प्रोग्रेसिव लिटरेचर' का हिंदी अनुवाद है। अंग्रेजी साहित्य में इस शब्द का प्रचार १९३५ ई० के आसपास विशेष रूप से हुआ जब ई० एम० फ़ार्स्टर के सभापतित्व में पेरिस में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का प्रथम अधिवेशन हुआ। हिंदुस्तान में उसके दूसरे साल डा० मुल्कराज आनंद और सज्जाद ज़हीर के उद्योग से जब उस संस्था की शाखा खुली और प्रेमचंद की अध्यक्षता में लखनऊ में उसका प्रथम अधिवेशन हुआ तो यहाँ भी 'प्रोग्रेसिव लिटरेचर' अथवा 'प्रगतिशील साहित्य' का प्रचार हो गया। कालक्रम अथवा प्रकारान्तर से यही प्रगतिवाद हो गया।

'प्रगतिशील साहित्य' संज्ञा का प्रचार यूरोप में उस समय हुआ जब समाज और साहित्य की गति में एक प्रकार की स्थिरता अथवा कुछ-कुछ ह्रास का अनुभव किया जा रहा था। इस दमघोंट स्थितिशीलता से उबरने के लिए वहाँ के लेखकों ने प्रगति का नारा दिया।

अपने यहाँ हिंदुस्तान में सन् '३६ के आसपास एकदम यूरोप का-सा गतिरोध तो नहीं था; लेकिन कविता में छायावाद का विकास लगभग रुक-सा गया था और कवि कुछ नये विचारों और व्यंजना के माध्यमों की खोज में थे। ऐसे ही समय यूरोप से लौटे हुए हिंदुस्तानी लेखकों ने 'प्रगति' की आवाज़ लगाई और यह आवाज़ छायावादी कवियों को अपने अन्तर की प्रतिध्वनि प्रतीत हुई। फलतः सुमित्रानन्दन पंत ने छायावाद का 'युगान्त' घोषित करके प्रगतिवाद को 'युगवाणी' के रूप में तुरंत अपना-लिया। देर-सबेर निराला और महादेवी ने भी अपनी-अपनी सीमाओं में

इसे स्वीकार किया। लेकिन पंत जी की तरह निराला ने इस विषय में जल्द-बाज़ी इसलिए नहीं दिखलाई कि वे बहुत पहले से ही कविता को 'बहु-जीवन की छवि' मानकर सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करते आ रहे थे और इसलिए भी कि पंत जी की अपेक्षा उनमें वैयक्तिकता तथा अहंवाद अधिक था। इसी तरह महादेवी के मानसिक परिवर्तन म देर इसलिए हुई कि उनमें तब तक छायावादी भावुकता और कल्पना से विरक्ति पैदा नहीं हुई थी क्योंकि छायावाद में देर से आने के कारण अभी उनका भावावेग चरम-सीमा पर पहुँच रहा था।

प्रगतिवाद के प्रति आरंभ में जितनी ललक कवियों की रही उतनी उपन्यासकारों की नहीं। उपन्यासकारों के लिए यह संदेश बहुत नया नहीं था क्योंकि उपन्यास का जन्म ही सामाजिक यथार्थ को लेकर हुआ था। यही वजह है कि 'प्रगतिशील लेखक संघ' के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए प्रेमचंद ने कहा कि लेखक स्वभावतः प्रगतिशील होता है, इसलिए 'प्रगतिशील लेखक संघ' में प्रगतिशील शब्द अनावश्यक है।

कुछ लोगों ने प्रेमचंद के इसी कथन का सहारा लेकर 'प्रगतिशील' शब्द को ग़लत ठहराने की कोशिश की; लेकिन उस कथन को पूरे प्रसंग में रखकर देखने से सही अर्थ समझ में आ जाता है।

इस कुतूहल-हीनता के बावजूद उपन्यासकारों ने दिल खोलकर प्रगति-शीलता का स्वागत किया जैसा कि स्वयं प्रेमचंद के कथन और आचरण से स्पष्ट है।

आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवाद ने साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या का नारा दिया जो आलोचकों के लिए काफी विचारोत्तेजक प्रतीत हुई। फलतः आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवाद का सबसे अधिक स्वागत हुआ।

इस तरह अपने प्रादुर्भाव काल से ही प्रगतिवाद एक ऐसी जीवन-दृष्टि बन गया जिससे कविता, उपन्यास, आलोचना सभी क्षेत्रों में नवीन दिशाओं और मान्यताओं के द्वार खुल गये। छायावाद से प्रगतिवाद इसी अर्थ में विशिष्ट है कि छायावादी जीवन-दृष्टि जहाँ अधिकांशतः कविता के

क्षेत्र में ही व्यक्त होकर रह गई; वहाँ प्रगतिवादी जीवन-दृष्टि साहित्य के प्रायः सभी क्षेत्रों में अपनी अभिव्यंजना करने लगी।

इस तरह प्रगतिवाद रचनात्मक-साहित्य और आलोचनात्मक मानदण्ड दोनों है।

२.

प्रगतिवाद का विरोध करते हुए कुछ लेखक कहते हैं कि यह सर्वथा अभारतीय और विदेशी विचारधारा है क्योंकि एक तो यह मार्क्सवाद पर आधारित है, दूसरे इसका सूत्रपात जिस 'प्रगतिशील लेखक संघ' के द्वारा हुआ वह फ्रांस के विदेशी वातावरण में स्थापित हुआ था और अब भी वह उस कम्यूनिष्ट पार्टी द्वारा संचालित होता है जिसकी लगाम सोवियत रूस के हाथ है।

लेकिन हिंदुस्तान के अनगिनत लेखकों और पाठकों ने प्रगतिशील साहित्य को अपनाकर इसकी भारतीयता प्रमाणित कर दी है और इस तरह उन्होंने उन तमाम विरोधी आलोचकों को मुँहतोड़ जवाब दिया है। इसलिए प्रगतिवाद की भारतीयता और अभारतीयता को लेकर बहस करना अब बेकार है। फिर भी लोगों की तुष्टि के लिए उस एतिहासिक पृष्ठभूमि की ोर संकेत किया जा सकता है, जिसके अनिवार्य परिणाम-स्वरूप प्रगतिवाद पैदा हुआ।

यदि प्रगतिवाद की माँ मार्क्सवाद ही है तो हिंदी में प्रगतिवाद का जन्म उन्नीसवीं सदी में ही हो जाना चाहिए था क्योंकि उस समय यूरोप में मार्क्सवाद की धूम मची हुई थी और हिंदुस्तानी लोग तब तक यूरोप के संपर्क में अच्छी तरह आ गये थे। लेकिन वास्तविकता यह है कि हिंदी में प्रगतिवाद पैदा हुआ, १९३० ई० के बाद। इसका साफ़ मतलब है कि प्रगतिवाद हिंदी में अपने समय पर ही पैदा हुआ—ऐसे समय जब हिंदी जाति और साहित्य की जमीन उसके अनुकूल तयार हो गई थी।

सन्' ३० तक आते-आते हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस में वामपक्षी दल क़ायम हो गया था; स्वयं कांग्रेस के भी प्रस्तावों में हिंदुस्तान

के श्रमजीवी जन-समूह की चर्चा होने लगी थी। किसान-मजूर आन्दोलन में काफ़ी ताकत आ गई थी। तत्कालीन साहित्य में भी इस राजनीतिक जागरण की छाया दृष्टिगोचर होने लगी थी। प्रेमचंद सन् '३० में 'ग़बन' उपन्यास लिखते हुए देवीदीन खटिक के मुँह से बड़े लोगों के सुराज की आलोचना तथा श्रमजीवियों के सुनहले भविष्य के विषय में भविष्य-वाणी करवाते हैं कि अभी दस-पाँच बरस चाहे न हो, लेकिन आगे चलकर बहुमत किसानों और मजूरों ही का हो जायगा। प्रसाद के 'तितली' उपन्यास में भी इस उभरते हुए वर्ग की छाया स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

कविता में भी कल्पना के स्थान पर ठोस वास्तविकता और वैयक्तिकता के स्थान पर सामाजिकता का आग्रह सन् '३० के बाद से ही बढ़ने लगा था।

आलोचना में आचार्य शुक्ल 'लोक-मंगल की साधनावस्था' पर ज़ोर दे रहे थे और इस तरह वे साहित्य के सामाजिक मूल्यांकन के लिए मार्ग प्रशस्त कर रहे थे।

ऐसी सामाजिक और साहित्यिक परिस्थिति में प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव होना युग की स्वाभाविक आवश्यकता थी। उस समय लेखकों ने जिस उत्साह से प्रगतिवाद को अपनाया इससे प्रगतिवाद भारतीय साहित्य परंपरा की स्वाभाविक आवश्यकता ही प्रतीत होता है।

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए जिस प्रकार का प्रगतिशील साहित्य लिखा गया, उससे भी यही प्रमाणित होता है कि प्रगतिवाद हिंदी साहित्य की परंपरा का स्वाभाविक विकास है। प्रगतिवाद के नाम पर आरंभ में पंत जी ने जो मार्क्सवाद और गांधीवाद, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद, सामूहिकता और वैयक्तिकता, बहिर्जगत और अन्तर्जगत, भाव और रूप वग़ैरह का समन्वय करना चाहा उसमें छायावादी परंपरा का आग्रह स्पष्ट है। इसी तरह प्रगतिवाद के नाम पर दिनकर, भगवतीचरण वर्मा और नवीन ने जो विनाश और विध्वंस का आह्वान किया उसमें पूर्ववर्ती व्यक्तिवाद की अराजकतावादी तथा विपथगा मनोवृत्ति का ही विस्फोट है।

प्रगतिवाद के नाम पर अमृतलाल नागर, नरोत्तम नागर आदि 'उच्छृंखल' दल के लेखकों ने यौन विकृतियों का नग्न उद्‌घाटन किया, वह भी स्पष्ट रूप से छायावादी अशरीरी भावनाओं की मांसल तथा शारीरिक प्रतिक्रिया है और इस उच्छृंखलता के मूल में भी वह व्यक्तिवादी अराजकता है। इन सभी प्रवृत्तियों के सम्मिलित प्रभाव में निराला ने जो 'अणिमा' के करुणा-भरे प्रार्थना-गीत गाये, एकाकीपन पर विलाप किया, 'कुकुरमुत्ता' के क्षुद्र मुख से अहं भरी घोषणाएँ की और रवीन्द्रनाथ की 'विजयिनी' की पैरोडी करते हुए खजोहरा-पीड़ित बुआ का रेखाचित्र खींचा--वह सब उनके छायावाद युगीन संस्कारों का ही कहीं बढ़ाव और कहीं प्रतिक्रिया है।

प्रगतिवाद के आरंभ में यह जो अध्यात्मवाद, अराजकतावाद, विकृत यथार्थवाद अथवा प्राकृतिकतावाद की प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं, उनका रिश्ता मार्क्सवाद से बहुत दूर का है—इससे आज का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है। इससे पता चलता है कि हिंदी के लेखकों ने बाहर के मार्क्सवादी प्रभाव को अपने व्यक्तिवादी और भाववादी संस्कारों की सीमा में ही स्वीकार किया और उसीके अनुरूप उनमें प्रतिक्रियायें भी हुईं। मध्यवर्गीय लेखकों के मन पर परिस्थिति का जैसा दबाव था, उसमें प्रायः इसी प्रकार का परिवर्तन संभव हो सका।

इन लेखकों के अतिरिक्त जो अपने को शुद्ध मार्क्सवादी कहते थे और यहाँ तक कि कम्यूनिस्ट भी थे और इस नाते 'प्रगतिशील लेखक संघ' के नता थे, उनमें भी भीतर से अनेक भाववादी तथा व्यक्तिवादी संस्कारों के अवशेष रह गये थे। शिवदान सिंह चौहान और प्रकाशचन्द्र गुप्त की आलोचनाओं में इस कमजोरी पर प्रायः अँगुली उठाई गई है। इनके अतिरिक्त जिन आलोचकों ने एकदम मार्क्सवादी सिद्धान्तों में अपने को दीक्षित कर लेने का दम भरा और इसके फलस्वरूप प्रगतिशील साहित्य में 'शुद्धि' का आन्दोलन चलाया उनकी अत्यधिक प्रगतिशीलता भी प्रकारान्तर से पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी संस्कारों की ही प्रतिक्रिया का फल है। परि-

स्थितियों के अनुसार संपूर्ण साहित्य का आन्तरिक रूपान्तर किए बिना अथवा हुए बिना खुद अकेले सबसे बहुत आगे बढ़ जाने का स्वांग भरना और फिर वहाँ से बाकी लोगों को लताड़ें बताना प्रकारान्तर से विध्वंसवादी वैयक्तिक क्रान्तिकारियों का-सा ही काम है। कम्यूनिष्ट बोली में जिसे दक्षिणपंथी और वामपंथी भूलों के नाम से पुकारा गया, वह दोनों ही पूर्ववर्ती युग के बद्धमूल साहित्यिक संस्कारों के परिणाम हैं।

आरंभिक प्रगतिवाद की इन तमाम दुर्बलताओं से भी यही प्रमाणित होता है कि वह हिंदी साहित्य की परंपरा का स्वाभाविक विकास है। जिस तरह प्रगतिवाद में पूर्ववर्ती साहित्य-परंपरा की सामाजिक चेतनावाले तत्वों का विकास हुआ, उसी तरह उसके व्यक्तिवादी-भाववादी संस्कारों की भी छाया बहुत दिनों तक पड़ती रही। ये दोनों बातें सिद्ध करती हैं प्रगतिवाद का उद्भव और विकास अपनी ही सामाजिक और साहित्यिक परिस्थिति में हुआ।

जो प्रगतिवाद को सर्वथा विदेशी विचारधारा कहते हैं वे भी, और जो इसे भारतीय परंपरा का ऐतिहासिक विकास कहते हुए भी प्रगतिशील लेखकों की दुर्बलताओं का मज़ाक उड़ाते हैं वे भी—दोनों ही प्रकार के लेखक प्रगतिवाद के उद्भव और विकास की ऐतिहासिकता को समझने से इनकार करते हैं। इसके अतिरिक्त जो आरंभिक प्रगतिवाद को व्यापक और परवर्ती प्रगतिवाद को संकीर्ण कहते हैं, वे भी केवल ऊपरी आन्दोलन के भ्रम में पड़कर प्रगतिशील साहित्य के उद्भव और विकास की ऐतिहासिक गतिविधि को नज़रअन्दाज़ कर जाते हैं।

३.

प्रगतिवाद के इन बीस वर्षों का इतिहास साहित्य में स्वस्थ सामाजिकता, व्यापक भावभूमि और उच्च विचार के निरंतर विकास का इतिहास है जो केवल राजनीतिक जागरण से आरंभ होकर क्रमशः जीवन की व्यापक समस्याओं की ओर, आदर्शवाद से आरंभ होकर क्रमशः यथार्थवाद की ओर और यथातथवाद अथवा नग्नयथार्थ से आरंभ होकर क्रमशः स्वस्थ सामाजिक यथार्थवाद की ओर अग्रसर होता जा रहा है।

प्रगतिशील साहित्य कोई स्थिर मतवाद नहीं है; बल्कि यह एक निरंतर विकासशील साहित्य-धारा है जिसके लेखकों का विश्वास है कि प्रगतिशील साहित्य लेखक की स्वयंभू अन्तःप्रेरणा से उद्भूत नहीं होता, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के क्रम से वह भी परिवर्तित और विकसित होता रहता है और उसके सिद्धान्त उत्तरोत्तर स्पष्ट तथा अधिक पूर्ण होते चलते हैं।

प्रगतिवाद का आरंभ साहित्य में आर्थिक और राजनीतिक आन्दोलन के रूप में हुआ। हिन्दुस्तान की आज़ादी उस समय लेखकों की प्रमुख समस्या थी; इसके साथ ही वे किसानों-मजूरों की सुख-सुविधा के लिए भी चिन्तित थे। छायावादी कविता में प्रेम-भावना की ही प्रधानता थी और उसमें जो देशभक्ति की कविताएँ हुईं भी उनसे लोगों की राष्ट्रीय भावनाओं को परितृप्ति नहीं हो सकी। इस तरह देश की विशेष राजनीतिक परिस्थितियों के कारण पच्चीस-तीस वर्ष पहलेवाला व्यापक सांस्कृतिक-सामाजिक जागरण अब केवल राजनीति में केन्द्रित हो गया। छायावाद यदि इस सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की उपज था तो प्रगतिवाद राजनीतिक जागरण की। दोनों की प्रकृति में अंतर होने का यही मूल कारण है।

सन् पैंतीस के ज़माने में साहित्य और राजनीति के संबंधों को लेकर गरम चर्चा चल पड़ी। जिस तरह छायावादी युग में 'साहित्य समाज का दर्पण है' कहने की हवा थी, उसी तरह इस युग में साहित्य और राजनीति की घनिष्ठता पर ज़ोर दिया जाने लगा। जो कुछ अधिक समझदार थे वे साहित्य के इससे भी व्यापक कार्यों की ओर संकेत करते हुए मैथ्यू आर्नल्ड का मशहूर फ़िकरा दुहराते थे कि साहित्य जीवन की आलोचना है।

इसका कारण यह है कि सामान्य लोगों के जीवन में राजनीति का तथा राजनीति में सामान्य लोगों का ऐसा प्रवेश पहली बार हुआ था। इससे पहले राजनीति केवल बड़े लोगों की चीज़ थी। लेकिन जनतांत्रिक परिस्थिति के आने से अब हवा बदल गई।

इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप साहित्य के क्षेत्र में नवजीवन तो आया,

लेकिन साथ ही एक दूसरे ढंग की संकीर्णता भी आ गई; क्योंकि साहित्य यथासंभव संपूर्ण मानव व्यक्तित्व को लेकर चलता और इसीसे वह मूल्यवान् भी होता है, केवल राजनीतिक व्यक्तित्व में साहित्य के लिए विशेष सामग्री नहीं मिल सकती। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि काफ़ी आलोचना-प्रत्यालोचना के बावजूद अभी तक प्रगतिशील साहित्य की यह एकांगिता दूर नहीं हो सकी है। परंतु प्रगतिशील लेखक पिछले कुछ वर्षों से इस कमी को बड़ी तीव्रता से अनुभव कर रहे हैं।

प्रगतिवाद के आरंभ-काल में जो दूसरा सवाल बड़े ज़ोर-शोर से उठाया गया वह यह था कि 'कस्मै देवाय हविषा विधेम?' इस वैदिक ऋचा के द्वारा लेखकों ने यह सवाल रखा कि साहित्य किसके लिए? छायावादी कवियों के लिए साहित्य प्रायः 'स्वान्तःसुखाय' अथवा अपने लिए था। इसकी प्रतिक्रिया में 'साहित्य समाज के लिए' का नारा उसी वक़्त दिया गया। लेकिन जब प्रगतिवाद ने कहा कि समाज में भी किसान-मजूरों के लिए साहित्य है, तो अनेक सतर्क मध्यवर्गीय लेखक भड़क उठे। 'विशाल भारत' में उस समय अज्ञेय ने इस मत का विरोध करते हुए कहा कि किसानों-मजरों की तरह आज निम्न मध्यवर्ग भी पीड़ित है—यही नहीं, बल्कि इस समाज-व्यवस्था में छोटे-बड़े सभी लोग परेशान हैं; इसलिए साहित्य सबके लिए—सम्पूर्ण मानवजाति के लिए है।

लेकिन इस 'मानवतावादी' लेखक ने उस समय इस आदर्शवादी गुब्बारे में छिपी हुई अपनी मध्यवर्गीय स्वार्थपरता के कारण यह नहीं देखा कि उसका यह मानवतावाद पैदा किसके कारण हुआ है? उसने ध्यान नहीं दिया कि शोषण के विरुद्ध विद्रोह की यह भावना मध्यवर्ग में अथवा संपूर्ण समाज में किस जागरण के फलस्वरूप आई? सन् तीस-पैंतीस से पहले यह उदार मानवतावाद कहाँ था? अगर किसानों-मजूरों ने शोषण से असंतुष्ट होकर उस समय सिर न उठाया होता तो बुद्धिजीवियों में उनके प्रति सहानुभूति भी पैदा न होती और न आता यह मानवतावाद! और 'बौद्धिक सहानुभूति' वाला यह मानवतावाद कितना खोखला था—धोखा भरा था, इसका

भी पर्दाफ़ाश शीघ्र ही हो गया! इस 'दयाशील मानवतावाद' से भी अतृप्त होकर जब किसानों-मजूरों ने दया की जगह अपने अधिकारों की माँग की तो मानवतावाद ने नया मोड़ लिया अथवा उसे नया मोड़ लेना पड़ा।

मुख्यरूप से किसानों-मजूरों को ध्यान में रखकर उनकी दृष्टि से न लिखने पर निम्न-मध्यवर्ग का पीड़ित लेखक अन्त में कितना निराशावादी और कभी-कभी कितना मानवता-विरोधी हो जाता है, यह स्वयं अज्ञेय की ही साहित्य-रचना से देखा जाता है। इस तरह के लेखक का मानवतावाद कितना संकुचित और केवल आत्मसुखवादी बन जाता है इसे अज्ञेय के साहित्य का पन्ना-पन्ना प्रमाणित करता है जिसमें वर्गभेद से ऊपर उठकर निष्पक्ष भाव से लिखने के नाम पर लेखक केवल अपनी विशिष्ट मध्यवर्गीय दुर्बलताओं को ही 'रैशनलाइज़' करता चलता है और किसान-मजूर शब्द तक उसकी कलम की नोक पर नहीं आते।

लेकिन उस समय 'साहित्य किसके लिए' के उत्तर में केवल अज्ञेय जैसे थोड़े से लेखकों ने ही इस तरह की संकीर्ण दृष्टि का परिचय दिया। मैथिलीशरण गुप्त जैसे पुरानी पीढ़ी के लेखकों ने भी 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' की उदात्त वाणी में अपना हृदयोद्गार प्रकट किया।

इसके फलस्वरूप कविता में पहली बार किसानों—विशेषतः मजूरों के गंदे पैरों की पवित्र धूल दिखाई पड़ी। संध्या के झुटपुटे में पंत जी को चिड़ियों के 'टी-वी-टी—टुट्-टुट्' के साथ ही डगमग डग घर का मग नापते हुए कुछ श्रमजीवी दिखाई पड़ गए; और फिर टीले पर उन्हींके नंगे तन गदबदे बदनवाले लड़के भी आ गए। कविता में पहली बार इतनी व्यापक सहानुभूति का प्रवेश हुआ। परिस्थितिवश यद्यपि यह सहानुभूति 'बौद्धिक' ही थी और यह मानवता भी केवल 'सहानुभूति' रही; फिर भी हृदय की इस विशालता ने साहित्य में नवजीवन का संचार कर दिया—साहित्य का क्षेत्र व्यापक बना दिया और उसमें उच्च कोटि की नैतिकता प्रतिष्ठित कर दी।

इस बौद्धिक सहानुभूति ने एक ओर लेखक को यथार्थ की ठोस धरती

पर उतारा तो दूसरी ओर उसके सिर को आदर्शवाद के ऊँचे आकाश में उठा दिया। दार्शनिक स्तर पर इसे पंतजी ने भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय समझा और सांस्कृतिक स्तर पर पश्चिम और पूरब का सम्मिलन। राजनीतिक जीवन में उन्हें यह मार्क्सवाद और गांधीवाद का सामंजस्य जान पड़ा और कविता में रूप और भाव का मिश्रण।

वस्तुत: यह छायावादी संस्कार और प्रगतिवादी विवेक का संघर्ष था और पंत जी संस्कार को विवेक से तोड़कर परिस्थिति के अनुरूप उसका रूपान्तर करने की जगह उनका सामंजस्य करने लगे। लेकिन ये दोनों चीज़ें इस क़दर परस्पर-विरोधी हैं कि प्रगतिशील विवेक के पर्याप्त सामर्थ्य के अभाव में पुराने छायावादी संस्कारों का प्रबल हो उठना स्वाभाविक था। पंत जी जैसे जन-भीरु और समाज से कटे हुए व्यक्ति के लिए केवल बौद्धिक ढंग से इस संघर्ष को सुलझाकर प्रगतिशील विवेक अपना लेना संभव न था। फलत: उनकी सामाजिक चेतना धीरे-धीरे हवाई आदर्शवाद के ही रूप में शेष रह गई।

लेकिन पंत जी की यह परिणति धीरे-धीरे कई वर्षों में हुई। जब वे अपने वर्तमान आध्यात्मिक ऊर्ध्वगमन का विकासक्रम वतलाते हुए इसका बीज 'ज्योत्स्ना' के हवाई आदर्शवाद में दिखलाते हैं तो ठीक ही कहते हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास में यह एक दुखद घटना है कि लोक-मंगल का ऐसा महान् स्वप्नद्रष्टा केवल 'ग्राम्या' के गीत गाकर आदर्शवाद के आकाश में खो गया। पंत जी की साहित्य-साधना से पता चलता है कि उन्होंने अपने को बदलने की बहुत कोशिश की। छायावाद के मोह को तोड़कर जिस तरह उन्होंने नये लोक में क़दम रखा वह बहुत बड़े त्याग का नमूना है। युगवाणी के कोरे सैद्धान्तिक, नीरस और कलाहीन पद्य लिखना उन्होंने स्वीकार किया, लेकिन छायावादी रुचिरता का पुनरुत्थान अपने भीतर नहीं होने दिया। 'ग्राम्या' इसी आत्मत्याग का पुण्य-फल है जिसे उन्होंने चार वर्षों के कठिन आत्मबलिदान और अन्त:संघर्ष के बाद प्राप्त किया। ग्राम्य प्रकृति और ग्राम्य नर-नारी के प्रति केवल 'बौद्धिक सहानुभूति' रखते

हुए भी उन्होंने उनका मर्म बहुत-कुछ पा लिया। 'हिमालय' की प्रकृति के कवि ने गाँव की प्रकृति का जो रूप लोगों के सामने खड़ा किया, वह हिंदी काव्य के इतिहास में अभूतपूर्व था। 'उच्छ्वास' की बालिका 'ग्रंथि' की प्रेयसी और 'गुंजन' की 'भावी पत्नी', 'रूपतारा' तथा 'अप्सरा' के सहचर ने ग्राम-युवती की जो झाँकी दिखाई वह अनूठी थी। 'एकाकी तारा' के विषण्ण गायक ने ग्रामीण वृद्ध की गहरी आँखों में झाँककर उसके मर्म की बात जिस ढंग से खोलकर रख दी—उससे कवि की बौद्धिक सहानुभूति की ईमानदारी का पता चलता है।

लेकिन 'बौद्धिक-सहानुभूति' की सीमा का यहीं अंत होता है और उसकी कार्य-शक्ति समाप्त होती है। यदि जनता के सम्पर्क से फिर नई कार्य-शक्ति नहीं आई तो ऐसी दुर्बल दशा में अध्यात्मवाद के पुराने मलेरिया का उभड़ आना स्वाभाविक है। खेद है कि पंत जी की 'अस्वस्थता' के क्षणों में 'ज्योत्स्ना' काल के दबे हुए अध्यात्मवाद ने उभड़कर फिर से दबोच लिया।

पंत जी के रोगग्रस्त होने पर अर्थात् सन् '४३ के आसपास पुराने कवियों में निराला की ओर सबकी दृष्टि लगी। 'बादल राग', 'वन-बेला' 'सरोज-स्मृति' और 'नर्गिस' के कवि से लोगों को स्वभावतः ही बहुत बड़ी-बड़ी उम्मीदें थीं। जिसने सन् '२३ में लिखा था—

रुद्ध कोष है क्षुब्ध तोष
अंगना-अंक से लिपटे भी
आतंक अंक पर काँप रहे हैं
धनी, बज्र गर्जन से बादल!
त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं।
जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर!

और जिसकी कविता 'वन बेला' की तरह—

यह ताप-त्रास
मस्तक पर लेकर उठी अतल की अतुल साँस,

और जिसने स्वर्ग की चाँदनी के मुक़ाबले धरती की 'नर्गिस' को श्रेष्ठ मानते हुए कहा कि 'धन्य, स्वर्ग यही !'

उस कवि से प्रगतिशीलता की आशा लगाना स्वाभाविक ही था। लेकिन एक ओर पंत जी दनादन युगवाणी और ग्राम्या दे रहे थे और दूसरी ओर निराला जी जैसे रास्ता ढूँढ़ रहे थे। चिर-प्रतीक्षा के बाद अपने नाम को सार्थक करती हुई छोटी-सी 'अणिमा' सन् '४३ में बाहर निकली। भाव-भरे लघु-लघु गीतों और साहित्यकारों के संस्तवन के अतिरिक्त हल्के हाथों खींचे हुए कुछ रेखा-चित्र भी उसमें दिखे। जैसे—

सड़क के किनारे दूकान है
पान की। दूर एक्कावान है
घोड़े की पीठ ठोंकता हुआ,
पीरबख़्श एक बच्चे को दुआ,
दे रहा है, पीपल की डाल पर
कूक रही है कोयल, माल पर
बैलगाड़ी चली ही जा रही है।
नीम फूली है, खुशबू आ रही है,
डालों से छन छनकर राह पर
किरनें पड़ रही हैं, बाह पर
बाह किए जा रहा है खेत में
दाहिनी तरफ़ किसान, रेत में
बाईं तरफ़ चिड़ियाँ कुछ बैठी हैं,
खुली जड़ें सिरसे की ऐंठी हैं।

लेकिन ग्राम्या के आगे इस रेखाकारी पर बहुत कम लोगों का ध्यान गया। तभी निराला के विक्षिप्त होने का बुरा समाचार आया। थोड़े दिनों

बाद इसी मनःस्थिति में उनका 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' निकले। 'कुकुर-मत्ता', गर्म पकौड़ी, खजोहरा 'महँगू महँगा रहा', डिप्टी साहब आए, कुत्ता भौंकने लगा आदि व्यंगों को देखकर साधारण पाठकों को बड़ी निराशा हुई। जिस मज़ाक के ढंग से वे कविताएँ कही गई थीं, उससे अधिक मज़ाक के रूप में वे ली गईं। कुछ ने कहा यह पागलपन है और कुछ ने कहा निरालापन! निराला के भक्तों ने इसमें यथार्थवाद की बड़ी-बड़ी बारीक बातें दिखाईं। इतना सब होते हुए भी साहित्य के सामान्य पाठक तथा चौहान जैसे कुछ आलोचक पंत जी को ही प्रगतिवाद का प्रवर्तक समझते रहे। निराला की प्रगतिशीलता की ओर लोगों का ध्यान नहीं रहा।

'नये पत्ते' की एक लंबी कविता 'देवी सरस्वती' जो अपने प्रकृति-चित्रण में पंत जी की ग्राम्या से अधिक यथार्थ तथा सांस्कृतिक परंपरा की गरिमा में बेजोड़ है, प्रायः निराला के भक्तों तथा सामान्य पाठकों से भी अनदेखी गुज़र गई। जिस तरह छायावादी युग में पंत जी के उच्छ्वास, आँसू वग़ैरह की सभी विशेषताओं को समेटते हुए उसी शैली में 'यमुना के प्रति' शीर्षक लंबी कविता लिखकर निराला ने चुनौती दी, उसी तरह प्रगतिशील युग में उनकी 'देवीसरस्वती' ने पंत जी की ग्राम्या के बिखरे प्रयत्नों को एक ही बृहद् प्रयत्न से ललकार दिया।

इसके गठन में पंत जी की 'अप्सरा' की-सी विराट कल्पना का आश्रय लिया गया है लेकिन यह 'सरस्वती' शताब्दियों से प्रगति के पथ पर अग्रसर होती आ रही जनता की सरस्वती हैं जो उसकी खेती-बारी में लहरा रही हैं और उसके दुःख-सुख की संगिनी हैं। इस नूतन 'सरस्वती' की—

> ऐसे बाह-बाह की वीणा बजी सुहाई,
> पौधों की रागिनी सजीव सजीं सुखदाई।
> सुख के आँसू दुखी किसानों की जाया के
> भर आए आँखों में खेती की माया से
> हरी भरी खेतों की सरस्वती लहराई,
> मग्न किसानों के घर उन्मद बजी बधाई।

इस 'सरस्वती' से कवि का कहना है कि तुम

सायक चढ़ी हुई हो, जनता का जी धन्वी।

अंत में वाल्मीकि से लेकर दादू तक इस सरस्वती की क्रमिक प्रगति का इतिहास बतलाते हुए निराला निष्कर्ष निकालते हैं कि—

तुम्हीं चिरन्तन जीवन की उन्नायक, भविता,
छवि विश्व की मोहिनी, कवि की सनयन कविता।

इसके बाद तरह-तरह के स्वरों में कुछ प्रयोग करते हुए विक्षिप्त-चित्त निराला किसी रहस्य-शक्ति की 'अर्चना' और 'आराधना' करने लगे। पंत जी की तरह निराला के भी वेदांती संस्कार कमज़ोरी में उभड़ आए। एक ओर उनकी अराजक विद्रोही प्रकृति ने उन्हें विक्षिप्त करके व्यंग-विद्रूप की ओर उन्मुख किया तो दूसरी ओर उनके रामकृष्ण-मिशनवाले संस्कारों ने भक्ति-भावना में ग़र्क कर दिया। जिस तरह पंत जी अपनी आध्यात्मिक उड़ान में भी सांसारिक समस्याओं पर विहंगम दृष्टि डालते चलते हैं, उसी तरह निराला भी अपनी भक्ति-सिक्त वेदना में जन-साधारण की सांसारिक पीड़ा का अनुभव करते रहते हैं। फिर भी पंत जी की आभा-सित होनेवाली सामाजिकता में उतनी सामाजिकता नहीं है, जितनी निराला की आभासित होनेवाली वैयक्तिकता में है। पंत जी के आशावाद में भी उतनी शक्ति नहीं है जितनी निराला के निराशावाद में है।

इस बीच देश में बंगाल का अकाल, द्वितीय महायुद्ध से उत्पन्न संकट, नौ-सेना-विद्रोह, हिंदुस्तान-पाकिस्तान का बँटवारा, हिन्दू-मुस्लिम साम्प्र-दायिक दंगों के फलस्वरूप भयंकर खून-खच्चर, देश से अंग्रेजों की राजनीतिक सत्ता का हटना और कांग्रेस के हाथों शासन-सत्ता का आना आदि अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं। इन घटनाओं ने कमोबेश हमारी आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्थिति को भी प्रभावित किया। निम्न-मध्यवर्ग की स्थिति पहले से भी अधिक खराब हुई और किसानों-मजूरों में भयंकर असंतोष फैला। आज़ादी के पहलेवाले बहुत से सपने टूट गए। सन् पैंतीस-छत्तीस में जो प्रगतिशील लेखक उत्साह और आशा लेकर चले थे, उनमें इस मोह-भंग के

फलस्वरूप काफी कटुता उत्पन्न हुई। परिस्थिति की इस मार में अनेक लेखक पथ से विचलित हो गए; फिर भी कुछ लेखक ऐसे अवश्य डटे रह गए जिन्होंने इन घटनाओं का साहस के साथ सामना किया। उन्होंने इन पर अपनी तात्कालिक साहित्यिक प्रतिक्रिया व्यक्त की। इन राजनैतिक रचनाओं में से बहुत-सी तो केवल सामयिक माँग को ही पूरी करनेवाली थीं, लेकिन अकाल और दंगों पर कुछ अत्यंत मार्मिक रचनाएँ भी सामने आईं।

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि प्रयोगवादी तथा दूसरे कवि जिस संकट-काल में अन्तर्मुख होकर केवल अपने में उलझे रहे, प्रगतिशील लेखकों ने साहसपूर्वक आगे बढ़कर जनता को ढाढ़स बँधाया और उसकी रहनुमाई की। प्रेमचंद द्वारा स्थापित 'हंस' तथा कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा संचालित 'नया-साहित्य' जैसे मासिक पत्रों ने इस युग में प्रगतिशील साहित्य की रचना और प्रचार में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इन पत्रों तथा 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रयत्न से हिन्दी के प्रगतिशील लेखक उर्दू, बँगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी, तेलगू, मलयाली आदि साहित्य के प्रगतिशील लेखकों के सम्पर्क में आए और इस तरह परस्पर-सहयोग से उन्होंने पर्याप्त शक्ति अर्जित की। भक्ति-आन्दोलन के बाद फिर उस तरह का अखिल भारतीय साहित्य-संगम प्रगतिवाद के ही युग में संभव हो सका। जनता के इस विराट ऐक्य ने अन्य भाषाओं के साहित्य की तरह हिन्दी साहित्य को भी बहुत बड़ी शक्ति दी।

प्रगतिशील साहित्य की इस विशाल सामाजिक भावना ने विकास-क्रम में साहित्य की नई पीढ़ी को जन्म दिया। इससे पहले सन् बीस और पैंतीस की दो पीढ़ियाँ प्रगतिशील साहित्य की रचना कर चुकी थीं और वे दोनों ही प्रगतिवाद के पूर्ववर्ती संस्कारों से ग्रस्त थीं। प्रगतिवाद ने उन्हें केवल मोड़ा भर था, पैदा नहीं किया था। अब प्रगतिवाद के लिए अवसर था कि अपने संस्कारों से साहित्यकारों की नई पीढ़ी पैदा करे और निःसन्देह उसने यह कार्य बड़ी सफलता से संपन्न किया।

इस जागरण के फलस्वरूप बोलियों में रचना करनेवाले अनेक लोक-कवि

ऊपर उठे जैसे बलभद्र दीक्षित पढ़ीस, रमई काका, वंशीधर शक्ल, रामकेर, विसराम, मुकुल, अशान्त, नन्दन आदि जिन्होंने अवधी, भोजपुरिया और राजस्थानी बोली में बड़े ही ओजस्वी तथा भावपूर्ण गीत और कविताएँ लिखीं। जिस तरह उन्नीसवीं सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण तथा बीसवीं सदी के राष्ट्रीय जागरण ने मध्यवर्ग के नवशिक्षित युवक समुदाय से अनेक कवि और साहित्यकार पैदा किए, उसी तरह पैंतीस के प्रगतिशील आन्दोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उसने मुख्यतः किसानों-मजूरों और कुछ निम्न मध्यवर्ग के पढ़े-लिखे युवकों में से नवीन भावनाओंवाले कवि तथा लेखक निकाले। मध्यवर्ग से उगनेवाली इस पौध के विशेष लेखक और कवि राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, अश्क, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगल सिंह सुमन, रामविलास शर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, राधा-कृष्ण, भवानीप्रसाद मिश्र, त्रिलोचन, रांगेय राघव, चन्द्रकुँवर वर्त्वाल, चन्द्र-किरन सौनरिक्सा, अमृतराय, तेजबहादुर चौधरी, भीष्म साहनी, भैरव-प्रसाद गुप्त, राजेन्द्र यादव, केदारनाथ सिंह, रामदरश मिश्र, मार्कण्डेय वग़ैरह के नाम उल्लेखनीय हैं। ये वे लेखक और कवि हैं जिन्हें प्रगतिशील आन्दो-लन ने ही लेखक और कवि बनाया।

विकास के इस सोपान पर आते आते प्रगतिशील साहित्य ने अपनी एक निश्चित परंपरा बना ली। पन्द्रह-बीस वर्षों के विभिन्न अतिवादों की निरंतर क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा प्रगतिशील साहित्य-धारा ने अपना एक निश्चित स्वरूप स्थापित कर दिया जिसे देखकर अब यह बेखटके कहा जा सकता है कि प्रगतिशील साहित्य की अपनी विशेषताएँ हैं जो अन्य आदर्शवादी, व्यक्ति-वादी तथा प्राकृतिकतावादी साहित्यिक प्रवृत्तियों से इसे अलग करती हैं। प्रगतिवाद ने जो अपना यह वैशिष्ट्य प्राप्त किया है उसे देखकर कुछ लेखक सोचते हैं कि प्रगतिवाद पैंतीस-छत्तीस की विशाल साहित्य-धारा की अपेक्षा अब संकीर्ण हो रहा है। लेकिन जो विचारशील हैं वे यह लक्ष्य किए बिना न रहेंगे कि प्रगतिवाद आरंभ की अनेक अध्यात्मवादी, व्यक्तिवादी, प्राकृतिकतावादी आदि मध्यवर्गीय प्रवृत्तियों से क्रमशः मुक्त होता हुआ अब

अपना प्रकृत जनवादी रूप प्राप्त कर रहा है। इस विराट जनवादी अभियान में जो रुका सो छूटा; जिसने इसका विरोध करने की हिमाकत की, वह गया और जिसने इसके उद्देश्य और कार्य में संदेह प्रकट किया, वह संदेहवादी टूटा। वे गुरु द्रोणाचार्य हों चाहें भीष्म पितामह, वे कर्ण हों अथवा जयद्रथ—इस महाभारत के विरोध पक्ष में जाकर उन्हें गतश्री होना ही है। अपने पूर्व वैभव के द्वारा आज वे चाहे जितने बड़े प्रतीत हो रहे हों लेकिन यदि इतिहास-विधाता के अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रवाले विराट वपु की वाणी सुनें तो पता चलेगा कि ये तमाम महारथी वस्तुतः मारे जा चुके हैं; इतिहास ने भीतर से इनका सारा तेज हर लिया है!

इसीलिए आज वे सभी अध्यात्मवादी, व्यक्तिवादी, प्राकृतिकतावादी, लेखक किसी आन्तरिक एकता को अनुभव करके दुरभिसंधिवश एक स्थल पर एकत्र हो गए हैं—जो कुछ वर्ष पहले एक दूसरे के विरोधी और एकदम भिन्न विचार रखनेवाले मालूम होते थे. वे सभी आज जैसे अभिन्न मित्र और एक हो रहे हैं और इनके इस एका ने ही प्रगतिशील साहित्य से अपने को अलगाकर परोक्ष रूप से प्रगतिशील साहित्य की निजी विशेषताओं को निर्धूम मेघमुक्त और स्पष्ट कर दिया है।

४.

जिस तरह कल्पनाप्रवण अन्तर्दृष्टि छायावाद की विशेषता है और अन्तर्मुखी बौद्धिक दृष्टि प्रयोगवाद की; उसी तरह सामाजिक यथार्थ-दृष्टि प्रगतिवाद की विशेषता है। कविता के क्षेत्र में भी प्रगतिवाद इसी दृष्टि से प्रकृति और मानव को देखता है। 'ग्राम्या' की रचना करते समय जब पंत जी ने कहा था कि—

देख रहा हूँ आज विश्व को मैं ग्रामीण नयन से
सोच रहा हूँ जटिल जगत पर जीवन पर जन मन से

तो उन्होंने इसी सामाजिक-यथार्थ-दृष्टि की आधार-शिला रखी थी।

इस दृष्टि ने सबसे पहले प्रकृति पर दृष्टिपात किया और अपनी

यथार्थवादिता का प्रमाण इस तरह दिया कि छाया-प्रकृति के स्थान पर ग्राम्य-प्रकृति के यथार्थ रूप का अंकन किया। उसने बादलों के छायामय मेल के स्थान पर 'फैली खेतों में दूर तलक मखमल की कोमल हरियाली' वाली ग्रामश्री को अपनी कविता का विषय बनाया। दृष्टि बदलते ही दृष्टि-बिन्दु भी बदल गया और साथ ही दृश्य भी। दृष्टि आकाश से उतरकर धरती पर, दूर से खिंचकर अपने आस-पास आ गई। यह ग्रामश्री पहले भी थी लेकिन छायावादी कवि का इस ओर ध्यान ही नहीं गया था। तब उसकी दृष्टि में 'लहलह पालक महमह धनिया', 'लाल लाल चित्तियाँ पड़े पीले-मीठे अमरूद', 'अरहर सनई की सोने की किंकिणियों', 'तीसी की नीलम कली', 'सरसों की उड़ती भीनी तैलाक्त गंध' जैसी सुन्दर वस्तुयें नहीं आई थीं। लेकिन जब कवि ने देखा कि—

छायातप के हिलकोरों चौड़ी हरीतिमा लहराती
ईखों के खेतों पर सुफेद कासों की झंडी फहराती

तो वह 'सुछवि के छायावन की साँस' वाले पल्लवों को भूल गया।

'धरती' का कवि त्रिलोचन यह 'ग्राम-श्री' इस रूप में देखता है—

सघन पीली
ऊर्मियों में !
बोर
हरियाली सलोनी
झूमती सरसों
प्रकम्पित वात से
अपरूप सुन्दर
धूप सुन्दर
धूप में
जग रूप सुन्दर
सहज सुंदर !

इस उन्मुक्त सहजता के साथ ही केदारनाथ अग्रवाल की मस्त वसंती हवा की चेष्टाएँ—

चढ़ी पेड़ महुवा
थपाथप मचाया
गिरी धम्म से फिर
चढ़ी आम ऊपर
उसे भी झकोरा
किया कान में कू
उतर कर भगी मैं
हरे खेत पहुँची—
वहाँ गेहुओं में
लहर खूब मारी
पहर दो-पहर क्या
अनेकों पहर तक
इसी में रही मैं !
खड़ी देख अलसी
लिए शीश कलसी
मुझे खूब सूझी ! –
हिलाया–झुलाया
गिरी पर न कलसी !
इसी हार को पा
हिलाई न सरसों
झुलाई न सरसों !

और फसलों के 'स्वयंवर' की एक झाँकी लीजिए जिसमें—

एक बीते के बराबर
यह हरा ठिंगना चना
बाँधे मुरैठा शीश पर—
छोटे गुलाबी फूल का,
सजकर खड़ा है।

और इस गँवई दृष्टि से दृष्टि मिलाइए।

यह ग्रामीण दृष्टि धीरे-धीरे विकास-क्रम में किस प्रकार सामान्यता से अपनी जनपदीय विशेषताओं की ओर उन्मुख हुई, इसे मिथिला के कवि नागार्जुन के इस स्मृति-चित्र में देखिए जो सिंध-प्रवास की बेला में आँखों में खिंच आते हैं—

याद आता मुझे अपना वह 'तरउनी' ग्राम
याद आतीं लीचियाँ औ' आम
याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भू भाग
याद आते धान
याद आते कमल, कुमुदिनि और तालमखान
याद आते शस्यश्यामल जनपदों के
—रूप - गुण - अनुसार ही रक्खे गए वे नाम
आते वेणु - वन वे, नीलिमा के निलय अति अभिराम।

नागार्जुन की मैथिली बोली में लिखी कविताओं में मैथिल-प्रकृति की स्थानीय विशेषताएँ अधिक उभरकर आई हैं।

एक बार प्रकृति पर यह प्रगतिशील दृष्टि देखें और फिर प्रयोगवादियों के प्रकृति-चित्रों को इनकी तुलना में रखें तो एक की स्वस्थ सामाजिकता और दूसरे की कुंठित वैयक्तिकता का अंतर स्पष्ट हो जायगा।

कहाँ तो सुन्दर धूप में सरसों की सघन पीली ऊर्मियों को देखकर त्रिलोचन सोचते हैं कि—

क्या कभी
मैं पा सकूँगा
इस तरह
इतना तरंगी
और निर्मल
आदमी का
रूप सुन्दर
धूप-सुन्दर !

और कहाँ अज्ञेय को 'उजली लालिम मालती' भी 'गंध के डोरे डालती' प्रतीत होती है और उसे देखकर इस अन्तर्गुहावासी कवि के—

मन में दुबकी है हुलास ज्यों परछाईं हो चोर की !

कहाँ वह स्वस्थ चित्त और कहाँ यह कुंठित मन !

गाँव के 'कलँगी मौर वाले बावले कासों' पर प्रयोगवादी कवि की भी दृष्टि जाती है लेकिन वह वहाँ केवल पिकनिक की गरज से जाता है और आँख मारकर चला आता है। प्रगतिशील कवि गाँव के बाहर ही बाहर खेतों का चक्कर लगाकर लौट नहीं आता। वह चुपके से 'सन्ध्या के बाद' गाँव के भीतर भी घुस जाता है और घूमते-घूमते उसके पैर तथा दृष्टि इस विषादपूर्ण चित्र पर जाकर रुक जाती है—

माली की मड़ई उठ नभ के नीचे नभ सी धूमाली
मंद पवन में तिरती नीली रेशम की सी हलकी जाली।
बत्ती जला दुकानों में बैठे सब कस्बे के व्यापारी
मौन मंद आभा में हिम की ऊँघ रही लंबी अँधियारी।
धुआँ अधिक देती है टिन की ढिबरी कम करती उजियाला
मन से कढ़ अवसाद श्रांति आँखों के आगे बुनती जाला।
कँप कँप उठते लौ के सँग कातर उर क्रन्दन, मूक निराशा
क्षीण ज्योति ने चुपके से गोपन मन को दे दी हो भाषा।

और इसी ज्योति के प्रकाश में कवि प्रकृति के बीच से गाँव में रहनेवालों के जीवन में प्रवेश करने की चेष्टा करता है।

यहाँ उसे अनेक प्रकार के दृश्य देखने को मिलते हैं। कहीं चमारों, कहारों, धोबियों का नाच दिखाई पड़ता है तो कहीं 'ग्राम देवता' के सम्मुख उनका श्रद्धा-समर्पित जीवन पड़ा मिलता है। अपने रास-रंग में भी ये दलित किसान जीवन की वास्तविकता नहीं भूलते और जमींदार के कार्यों पर स्वांग भरते हुए टीका-टिप्पणी कर ही बैठते हैं।

इसी परिक्रमा में कवि की दृष्टि सहसा 'वर्ग-सभ्यता' के मंदिर के निचले तल के दो वातायनों' पर जाती हैं जो ध्यान से देखने पर किसान की दो आँखें ज्ञात हुईं। 'अंधकार की गुहा सरीखी उन आँखों' से आँखें मिलाने का साहस कवि को न हो सका। उनमें उसे 'मरघट का तम' दिखाई पड़ा। उन आँखों में उस किसान के बेदखल हुए खेतों की लहराती हरियाली दीख गई और फिर कारकुनों की लाठी से मारा गया जवान लड़का, बिना दवा-दर्पन के स्वरग चली जानेवाली गृहिनी, दुधमुँही बिटिया, कोतवाल द्वारा धर्षिता विधवा पतोहू, कुर्क हुई धवरी गाय—सब कुछ साकार हो उठा। और इस याद में फिर कवि को दया की भूखी आँखें ऐसी लगीं जैसे—

तुरत शून्य में गड़ वह चितवन तीखी नोक सदृश बन जाती।

प्रयोगवादी कवियों को 'वे आँखें' नहीं दिखाई पड़तीं क्योंकि वे उनसे बचकर चलते हैं; यदि कभी इत्तफ़ाक से उन आँखों से आँखें मिल भी गईं तो उनकी ज्योति से चौंधिया कर बंद हो जाती हैं। प्रगतिशील कवि की तरह उनमें साहस ही नहीं है कि उन आँखों में झाँककर किसान के जीवन को देख सकें।

गाँवों के जीवन में घुसते ही प्रगतिशील कवि अपनी वैयक्तिकता भूल-कर गाँव में रहनेवाले तरह-तरह के लोगों को देखता है और उनका चित्र उरेहता है। अहीर की निरक्षर लड़की चम्पा, भोरई केवट, प्राइमरी स्कूल के मास्टर दुखरन झा, चना चबेना खानेवाला चंदू, चित्रकूट के बौड़म

यात्री वग़ैरह वग़ैरह। इनमें से एक चित्र देखिए। यह हैं नागार्जुन के 'दुखरन झा' और यह है उनका स्कूल—

घुन खाए शहतीरों पर की बारहखड़ी विधाता बाँचे
फटी भीत है, छत चूती है, आले पर विसतुइया नाचे
बरसा कर बेबस बच्चों पर मिनट-मिनट में पाँच तमाचे
इसी तरह से दुखरन मास्टर गढ़ता है आदम के साँचे।

क्यों? वह उनकी तनखा से पूछिए।

प्रयोगवादी कवि इतना आत्मस्थ और अहंलीन रहता है कि उसका ध्यान आदम के इन साँचों की ओर जाता ही नहीं। उसे अपने दर्द के सामने दूसरे के दुख-दर्द की ओर आँख उठाकर देखने की फ़ुरसत ही नहीं। लेकिन उन्हें दुख-दर्द भी क्या है? वह दर्द केवल प्रेम की अतृप्ति और अप्राप्ति का दर्द है! प्रयोगवादियों में बहुत कम कवि ऐसे हैं जो गहराई में पैठकर अनुभव कर सकें कि 'और भी दर्द हैं दुनिया में मुहब्बत के सिवा'।

व्यक्तिवादी कवि के मन में इस तरह के विचार कभी ही कभी आते हैं और वह भी रघुवीर सहाय जैसे कुछ-एक ही कवियों में—

माधवी
(या और भी जो कुछ तुम्हारे नाम हों····)
तुम एक ही दुख दे सकी थीं
फिर भला ये और सब किसने दिए हैं?
जो मुझे हैं और दुःख, वे तुम्हें भी तो हैं।

लेकिन ये और दुःख कौन-से हैं, इन्हें प्रयोगवादी कवि साफ़-साफ़ नहीं कहता क्योंकि कहना नहीं चाहता।

कभी गिरजाकुमार जैसे प्रयोगवादी कवि शहरी मध्यवर्ग के इन और दुःखों को कहना चाहते हैं, पर वे भी अस्पष्ट ढंग से उसे 'थकान' कहकर रह जाते हैं। 'शाम की धूप' की रंगीनियों से आँखें रंजित करने और उसकी गरमाई में आँखें सेंकने के बाद वे आफिस से लौटते हुए बाबुओं की

साइकिल के पीछे बँधी हुई 'भूखी फ़ाइलों' और रोज़मर्रा के इस्तेमाल के लिए खरीदे हुए मामूली सामानों से भरी टोकरी की 'क़िस्मत' पर दृष्टि दौड़ाते हैं। लेकिन उससे कतराकर कवि तुरंत वहाँ भाग जाता है जहाँ

घर के उस फूल पर यह मन की बूंद
ठहरना चाहती सुध बुध खोकर
जिससे उतरे थकान तन-मन की
डूबकर रात की मिठासों में !

लेकिन यह 'धूप' निम्न मध्यवर्ग के प्रगतिशील कवि के जीवन पर कैसी रोशनी डालती है, इसे गिरजाकुमार अपने मित्र नागार्जुन की इन पंक्तियों में देखें—

पूस मास की धूप सुहावन
घिसे हुए पीतल सी पांडुर
पूस मास की धूप सुहावन
स्तनपायी नीरोग गौर-छवि
शिशु के गालों जैसी मनहर
पूस मास की धूप सुहावन
फटी दरी पर बैठा है चिर-रोगी बेटा
राशन के चावल से कंकड़ बीन रही पत्नी बेचारी
गर्भ-भार से अलस-शिथिल हैं अंग-अंग
मुँह पर उसके मटमैली आभा
छप्पर पर बैठी है बिल्ली
किसके घर से जाने क्या कुछ खा आई है
चला चलाकर जीभ स्वाद लेती ओठों का।

इधर घर में कोयला ही नहीं है और यह तय है कि 'पूस मास की धूप सुहावन चावल नहीं सिझा सकती है, रोटी नहीं सेंक सकती है, भाजी नहीं पका सकती है।' इसलिए

जहाँ कहीं से एक अठन्नी लानी होगी
वर्ना इस चूल्हे के मुँह पर फिर मकड़ी का जाला होगा !

प्रयोगवाद की रूमानी दृष्टि में और प्रगतिवाद की यथार्थदर्शी-दृष्टि में यह अन्तर है !

ऐसा नहीं है कि प्रगतिशील कवि को प्रेम संबंधी दुख-दर्द नहीं सताता ! सताता है। वह भी आदमी होता है और इस व्यवस्था में उसे जहाँ आर्थिक कष्ट हैं, वहाँ उन आर्थिक कष्टों के कारण अथवा उनके अलावा अन्य प्रकार की भी मानसिक व्यथायें होती हैं। घोर निर्जनता में उसे अपनी प्रिया का 'सिंदूर-तिलकित भाल' याद आता है। और संपूर्ण प्रयोगवादी कविता में इस 'सिंदूर-तिलकित भाल' की शुचिता के दर्शन नहीं हो सकते। प्रगतिशील कविता में जो स्वस्थ सामाजिक-पारिवारिक प्रेम व्यक्त हुआ है, वह प्रयोगवाद के स्वैराचार और कुंठ भरे प्रेम-काव्य में नहीं मिल सकता।

प्रगतिशील कवि जहाँ स्वच्छंद प्रेम का चित्रण करता है, वहाँ भी संयत और स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचय देता है। स्फूर्तिदायक प्रथम परिचय का एक चित्र त्रिलोचन के कुंठाहीन हृदय में देखिए—

यों ही कुछ मुसकाकर तुमने
परिचय की वह गाँठ लगा दी

था पथ पर मैं भूला भूला
फूल उपेक्षित कोई फूला
जाने कौन लहर थी उस दिन
तुमने अपनी याद जगा दी

कभी कभी यों हो जाता है
गीत कहीं कोई गाता है
गूँज किसी उर में उठती है
तुमने वही धार उमगा दी

जड़ता है जीवन की पीड़ा
निस्तरंग पाषाणी क्रीड़ा

तुम अनजाने वह पीड़ा
छवि के शर से दूर भगा दी !

प्रगतिशील कवि का प्रेम इतना स्वस्थ और स्फूर्तिदायक इसीलिए है कि वह प्रेम को संपूर्ण जीवन का अंग समझकर अनुभव करता है; प्रयोगवादी कवि की तरह वह संपूर्ण जीवन से प्रेम-संबंध को काटकर देखने का आदी नहीं है। जिस तरह उसके प्रेम-संबंध को सामाजिकता सुधारती चलती है, उसी तरह उसका प्रेम-संबंध सामाजिक भावना को भी बल देता चलता है। त्रिलोचन का अनुभव है कि

मुझे जगत जीवन का प्रेमी
बना रहा है प्यार तुम्हारा।

और जगत्-जीवन का प्रेमी सौन्दर्य-मुग्ध दृष्टि से केवल उसकी सुषमा को ही नहीं देखता है बल्कि उसकी सुषमा पर घिरती हुई छाया को देखता है और फिर उस सर्वग्रासी छाया को दूर करने की चेष्टा में ही अपनी निजी पीड़ा का भी अन्त समझता है। इसीलिए प्रगतिशील कवि की निराशा में भी आशा की दीप्ति होती है। प्रयोगवादी कवि की तरह वह दुःख या सुख कुछ भी अकेले-अकेले नहीं झेलना चाहता है।

आज मैं अकेला हूँ
अकेले रहा नहीं जाता !

जीवन मिला है यह
रतन मिला है यह
धूल में कि फूल में
मिला है तो मिला है यह
मोल - तोल इसका
अकेले कहा नहीं जाता !

ओखी धार दिन की
अकेले बहा नहीं जाता !

यही सामाजिकता प्रगतिशील कवि में वास्तविक देश-प्रेम जगाती है। अहंलीन प्रयोगशील कवियों का ध्यान शायद ही कभी देश-प्रेम के गीत लिखने की ओर जाता हो क्योंकि वे देश-प्रेम को पुरानी चीज़ समझते हैं; उनके विचार से यह पूर्ववर्ती राष्ट्रीय जागरणवाले युग की भावना है और अब उसकी कोई आवश्यकता नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर वस्तुतः वे अराष्ट्रीयता का प्रचार करते हैं; विदेशी कवियों के भाव-रूप में वे इस तरह रँगे हुए हैं कि उनकी कविता में अपनी देशज विशेषताएँ नगण्य हैं; उनमें अपनी धरती का रस नहीं है। गमले के फूल की तरह इनकी खाद और पौदा सब कुछ विदेशी है, केवल गमला देशी है।

प्रगतिशील कवि इस अराष्ट्रीयता के विपरीत अपने गाँव और जनपद को प्यार करते हैं और उसी प्यार के माध्यम से वे देश-प्रेम की व्यंजना करते हैं। पहले की देश-प्रेम संबंधी कविताओं से इनकी यह विशेषता है। पहले की देशभक्ति सामान्योन्मुखी थी तो प्रगतिशील युग की देश-भक्ति विशेषोन्मुख है और इसीलिए अधिक ठोस और वास्तविक है; यह विशेष के भीतर से ही सामान्य को प्रकट करती है। प्रगतिशील कविता का यही यथार्थवाद है। नागार्जुन ने अपनी जन्मभूमि 'तरउनी' तथा मिथिला की याद में जो दर्जनों कविताएँ मैथिली और खड़ी बोली में लिखी हैं, उनसे इस राष्ट्रीयता का अनुमान लगाया जा सकता है।

आर्थिक परिस्थितियों के कारण निरंतर प्रवासी का-सा जीवन बितानेवाले नागार्जुन के हृदय में मिथिला के लिए कितनी हूक उठती है इसे सहृदय ही अनुभव कर सकते हैं। 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' कवि को अपने मिथिला की याद हो आती है और वह सोचता है कि यदि हमारे पास भी बाप-दादों की ज़मीन होती तो घर छोड़कर रोज़ी के लिए बाहर न निकलना पड़ता और तब अपनी जन्मभूमि से ऐसा दुःसह बिच्छेद भी न होता। कवि कभी-कभी थोड़े समय के लिए अपनी जन्मभूमि के दर्शन के लिए जाता है तब उसे अनुभव होता है कि जैसे बिका हुआ बैल अपने

पहलेवाले 'बथान' पर आकर उसे सूँघता है और फिर आह भरकर छोड़ता है उसी तरह मुझे भी यह धरती जल्द ही छोड़नी पड़ेगी! दूर-देश सिन्ध में पड़े-पड़े वह एकबार तपड़कर गा उठता है—

हो गया हूँ मैं नहीं पाषाण
जिसको डाल दें कोई कहीं भी
करेगा वह कभी कुछ न विरोध!
× × ×
यहाँ भी, सच है, न मैं असहाय
यहाँ भी हैं व्यक्ति औ' समुदाय
किन्तु, जीवन भर रहूँ फिर भी प्रवासी ही कहेंगे हाय!
मरूँगा तो चिता पर दो फूल देंगे डाल
समय चलता जायगा निर्बाध अपनी चाल!

और यह मातृभूमि-प्रेम राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी नहीं है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि यह प्रगतिशील कवि जिस ममत्व से बंगाल के साथ हाथ मिलाता है, उसी ममत्व से केरल के साथी को भी भेंटता है और उसी स्नेह के साथ नये चीन, सोवियत यूनियन, लैटिन अमेरिका तथा अन्य देशों की जनता को छाती से लगाता है।

इस तरह प्रगतिशील कविता ने संसार में सुख-शान्ति ले आने के लिए संसार-भर की जनता की आकांक्षाओं के साथ हमारी आकांक्षाओं को जोड़ दिया है। इतने बड़े कार्य का श्रेय प्रगतिशील कविता को ही है। आत्म-केन्द्रित प्रयोगवादी कवियों को इस बात से कोई मतलब नहीं है; उसके लिए उसकी कुंठा इस विश्व-भावना से कहीं बड़ी और महत्त्वपूर्ण है।

प्रगतिशील कवि जानता है कि वास्तविक सुख-शान्ति अभी हमारे जीवन में नहीं आ सकी है; फिर भी जब वह दुनिया के तिहाई भाग में सुख-शान्ति को वास्तविक रूप धारण करते देखता है और पाता है कि उसके लिए जो भविष्य है वह कुछ लोगों के लिए वर्तमान बन चुका है तो भविष्य की असंभाव्यता पर से उसका विश्वास उठ जाता है और मानव-विजय की आशा उसमें नूतन कल्पनाशक्ति का संचार करती है।

इसीलिए प्रयोगवादी कवि जहाँ एकदम रुद्ध-यथार्थवादी है, वहाँ प्रगतिशील कवि यथार्थ की सीमाओं से मुक्त होकर कल्पना की उदात्त सृष्टि भी करता है; वह सुनहरे सपने भी देखता है। सपना तो प्रयोगवादी कवि भी देखता है, लेकिन उसका दिवा-स्वप्न प्रायः रुग्णता और पलायन के भावों से भरा होता है; जब कि प्रगतिशील कवि का सपना उसे संघर्ष करने की शक्ति देता है—वह स्फूर्तिदायक और वीरत्वव्यंजक होता है।

प्रगतिशील कविता के बारे में अक्सर यह कहा जाता है कि उसमें कलापक्ष की अवहेलना की जाती है; यदि इसका यह अर्थ है कि प्रगतिशील कवि प्रयोगवादियों की तरह कलापक्ष पर बहुत ज़ोर नहीं देते तो यह ठीक है। बहुत सजाव-सिंगार और पेचीदगी प्रगतिशील कविता में नहीं मिलती। अपनी बात को कितना सुलझाकर उसे कितने सहज ढंग से कह दिया जाय—यही प्रगतिशील कवि का प्रयत्न रहता है। उसके भावों की तरह भाषा भी गाँठ-रहित होती है। प्रगतिशील कवि अपना हर शब्द और हर वाक्य चमत्कारपूर्ण बनाने की चेष्टा नहीं करता। यदि दो-चार शब्द बेकार भी आ जायँ तो वह उन्हें निकाल देने के लिए बहुत चिंतित नहीं होता। उसका विश्वास है कि जबर्दस्त भाव भाषा की ढीला-पोली के बावजूद अपने को प्रकाशित करके रहते हैं। इसीलिए प्रगतिशील मुक्तछंदों के बन्द प्रयोगवादी कविता की अपेक्षा काफ़ी शिथिल मिलेंगे। लेकिन यही सहजता उनकी शोभा है। प्रयोगवाद की कटी-छँटी नव कविता के मुकाबले प्रगतिशील कविताएँ प्रायः अनगढ़, बेतरतीब उगी हुई घासों और फूलों की बनस्थली प्रतीत होती हैं लेकिन उनके उस जंगलीपन में भी आकर्षण है।

प्रगतिशील कविता की यह सरलता ही और रचयिताओं के लिए दुःसाध्य है। इसे देखकर सभी सोचते हैं कि इसे लिखने में क्या है, लेकिन लिखने चलते हैं तो आटा-दाल का भाव मालूम हो जाता है। तुलसी के शब्दों में—

जिमि मुँह मुकुर, मुकुर निज पानी।
गहि न जाइ अस अद्भुत बानी।।

फिर भी प्रगतिशील कवि जब व्यंग लिखते हैं तों उनकी भाषा का बाँकपन देखने लायक होता है। हिंदी कविता में व्यंग-काव्य का जितना सुन्दर विकास प्रगतिवाद में हुआ, उतना कभी नहीं। नागार्जुन और केदार के नुकीले व्यंग कितने प्रभावशाली हैं, इसे जनता के दुश्मन ही जानते हैं। हिंदी कविता में व्यंग या तो निराला ने लिखे या फिर नागार्जुन और केदार ने। नागार्जुन के व्यंग का एक नमूना लें। नेता लोग जो अक्सर यह कहते हैं कि हमारे यहाँ भूख या अकाल नहीं है, उस पर यमराज तथा एक मरे हुए मास्टर की बातचीत के द्वारा यहाँ कितना सुन्दर व्यंग किया गया है। नरक के मालिक यमराज 'प्रेत का बयान' लेते हुए पूछते हैं कि कैसे मरा तू ? जवाब में 'नचाकर लम्बे चमचों-सा पंचगुरा हाथ, रूखी पतली किट-किट आवाज में' प्रेत अपना पूरा पता बतलाते हुए करेमों की पत्तियाँ खाने की आधी ही कथा कह पाता है कि दण्डपाणि महाकाल अविश्वास की हँसी हँसकर कहते हैं—"बड़े अच्छे मास्टर हो! आए हो मुझको भी पढ़ाने!! वाह भाई वाह! तो तुम भूख से नहीं मरे?" इस पर हद से ज़्यादा ज़ोर डालकर प्रेत कहता है कि 'औरऔर और और भले नानाप्रकार की व्याधियाँ हों भारत में किन्तु—किन्तु भूख या क्षुधा नाम हो जिसका ऐसी किसी व्याधि का पता नहीं हमको!' और भाफ़ का आवेश निकल जाने के बाद शांत-स्तिमित स्वर में फिर कहता है—कि जहाँ तक मेरा अपना संबंध है, सुनिए महाराज,

> तनिक भी पीर नहीं
> दुख नहीं, दुविधा नहीं
> सरलता पूर्वक निकले थे प्राण
> सह न सकी आँत जब पेचिश का हमला ...

छंदों के क्षेत्र में प्रगतिशील कवि जान बूझकर विचित्र-विचित्र धुन निकालने का प्रयोग तो नहीं करते; लेकिन यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि प्रगतिशील कवियों ने लोकगीतों की अनेक नई धुनों को कविता में पुनर्जीवित किया। इस दिशा में एकदम नये कवि जैसे केदारनाथ सिंह,

रामदरश मिश्रा आदि ने काफ़ी सफलता दिखलाई है। नई तर्ज़ में लिखा हुआ केदारनाथ अग्रवाल का यह सीधा-सादा सा गीत चुने हुए थोड़े-से शब्दों में मार्मिक प्रभाव छोड़ जाता है—

माँझी न बजाओ वंशी मेरा मन डोलता
मेरा मन डोलता है जैसे जल डोलता
जल का जहाज जैसे पल पल डोलता

माँझी न बजाओ वंशी मेरा प्रन टूटता
मेरा प्रन टूटता है जैसे तृन टूटता
तृन का निवास जैसे बन बन टूटता
माँझी न बजाओ वंशी मेरा तन झूमता
मेरा तन झूमता है तेरा तन झूमता
मेरा तन तेरा तन एक बन झूमता।

५.

प्रगतिवाद के सामाजिक यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण कविता में जितना परिवर्तन हुआ, उतना कहानी-उपन्यास के क्षेत्र में नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि प्रेमचंद के युग से ही उपन्यास में यथार्थवादी प्रवृत्ति का उदय हो गया था। अपनी कहानियों और उपन्यासों में प्रेमचंद ने शुरू से ही किसानों और मध्यवर्गीय भद्र पुरुषों के यथार्थ जीवन का चित्रण किया था। प्रेमचंद के ही समय किस तरह परिस्थितिवश किसान मजूर बनने के लिए विवश हो गया था, इसे भी उन्होंने 'गोदान' में अच्छी तरह दिखला दिया था। इसलिए प्रगतिवाद के उदय से अधिक-से-अधिक यही उम्मीद थी कि प्रेमचंद की परंपरा को और भी अच्छी तरह से आगे बढ़ाने की दृष्टि मिलेगी। प्रेमचंद ने आरंभिक युग के सुधारवादी और आदर्श-वादी विचारों से किस तरह क्रमशः छुटकारा पाया और अंत तक आते-आते उनका दृष्टिकोण कितना स्पष्ट हो गया था इसे 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान'

की तुलना से अच्छी तरह समझा जा सकता था। वास्तविकता के विषय में उनकी समझ कितनी गहरी हो गई थी इसका पता केवल एक उदाहरण से चल सकता है।

'प्रेमाश्रम' के बलराज और मनोहर जैसे किसानों को उन्होंने बहुत अधिक विद्रोही दिखाया था लेकिन होरी को उन्होंने संतोष, धैर्य, सहनशीलता तथा अंधविश्वास का पुंज दिखलाया, जो भारतीय किसान की ज़ाती विशेषता है। यदि किसान-आन्दोलन की ओर ध्यान दें तो 'प्रेमाश्रम' के सत्रह-अठारह वर्षों बाद लिखे हुए 'गोदान' में किसान को अधिक विद्रोही दिखाना चाहिए था। लेकिन वास्तविकता यह थी कि तमाम आन्दोलनों के बावजूद भारतीय किसान काफ़ी संतोषी, भाग्यवादी और धैर्यधन रहा है। अपने अनुभवों से प्रेमचंद ने इस तथ्य को अंत में समझा और होरी के रूप में उन्होंने ऐसे ही किसान का चित्रण किया जो तमाम किसानों का प्रतिनिधि हो सका।

इसके साथ ही उनकी सूक्ष्म दृष्टि से यह बात न छूट सकी कि इन वर्षों में किसान के शोषण के ढंग अधिक बारीक हो गए थे। इस बीच जमींदार तथा दूसरे शोषक अधिक सतर्क हो गए थे। यथार्थदर्शी प्रेमचंद ने बहुत खूबी से प्रच्छन्न रूप में होरी के शोषित होने का चित्रण किया है।

तब से भारतीय किसान के जीवन में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए हैं; उसे शोषित करने के तरीके बदल गए हैं—शोषकों में भी तर और तम संबंधी अंतर आ गया है। दूसरी ओर किसान में अपेक्षाकृत असंतोष की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। इस परिवर्तित और जटिल वास्तविकता को समझने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि की जरूरत है और प्रगतिशील जीवन-दृष्टि ने निःसन्देह इस विषय में लेखकों की सहायता की। नागार्जुन के बलचनमा, नई पौध, बाबा बटेसरनाथ और भैरवप्रसाद गुप्त की 'गंगा मैया' जैसे उपन्यासों में किसानों की ऐसी ही जिंदगी का वास्तविक चित्रण किया गया है। नागार्जुन ने एक ओर मिथिला के संघर्ष-रत किसानों को मूर्तिमान किया है तो भैरव ने बलिया के विद्रोही किसानों को। प्रेमचंद के बाद किसानों की जिंदगी का सफल चित्रण करनेवाले ये अकेले प्रगतिशील लेखक हैं।

मज़दूरों की जिंदगी पर छोटी-छोटी कहानियाँ तो इस बीच बहुत-सी लिखी गईं लेकिन उपन्यास कोई देखने में नहीं आया। इसका कारण संभवतः यही है कि अब भी भारत कृषि-प्रधान देश है।

प्रगतिवाद के युग में कथा-साहित्य का अधिकांश मध्यवर्ग को लेकर लिखा गया। यशपाल, अश्क, अमृतलाल नागर, विष्णु प्रभाकर, अमृत राय, रांगेय राघव, राधाकृष्ण वग़ैरह ने मध्यवर्गीय जीवन से ही अपने पात्र चुने और हर तरह के पात्र चुने। अश्क की 'गिरती दीवारें' और 'गरम राख', यशपाल के 'देश-द्रोही' और 'मनुष्य के रूप', अमृतलाल नागर के 'सेठ बाँके मल', रांगेय राघव का 'घरौंदे', अमृत का 'बीज', विष्णु का 'ढलती रात' आदि उपन्यासों के नायक तथा इतर पात्र प्रायः मध्यवर्ग के हैं।

सन् पैंतीस के बाद मध्यवर्ग के जीवन में काफ़ी परिवर्तन हुआ और इन लेखकों ने इसका भरसक यथार्थ चित्रण करने का प्रयत्न किया। सब समय इन्हें सफलता मिल ही गई हो, यह कहना कठिन है। अक्सर ऐसा हुआ है कि इनके नायक निःसत्व हो गए हैं और ओछे ढंग के रोमांस में डूब चले हैं। कभी-कभी नायक को वस्तुस्थिति से अधिक आगे और विद्रोही दिखाने की चेष्टा की गई है। इन सबके बावजूद यह कहा जा सकता है कि कुछ व्यक्तिवादी और सेक्सवादी लेखकों को छोड़कर इस युग के अधिकांश उपन्यासकारों और कहानीकारों ने भरसक मध्यवर्ग की यथार्थ कमजोरियों को चित्रित करने की कोशिश की है।

कथाकारों को प्रगतिवादी दृष्टिकोण ने सामाजिक यथार्थवाद के दो ख़तरों से बचाने का प्रयत्न किया है। एक ख़तरा तो मनोविश्लेषणवाद की ओर से है जिसमें या तो शेखर और भुवन जैसे सर्वथा अहंवादी और असाधारण पात्रों की सृष्टि की जाती है अथवा इलाचन्द्र जोशी के सेक्स-ग्रस्त अद्भुत नायकों का निर्माण होता है। इन दोनों प्रकार की असाधारणताओं से उबारकर प्रगतिवाद ने साधारण पात्रों के निर्माण का गुर बताया।

इसके विपरीत इस विचार-प्रचार-प्रधान युग में कुछ लेखकों ने व्यक्तित्व-हीन सर्वथा निर्जीव पात्रों के सहारे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए बहस-

मुबाहिसा से भरा हुआ उपन्यास लिखा। प्रगतिवाद को भी इस सोद्देश्यता का जिम्मेवार कहा जा सकता है। लेकिन धीरे-धीरे यह ग़लती दूर कर ली गई।

प्रगतिवादी दृष्टिकोण के प्रभाव से कुछ उपन्यासकारों का ध्यान ऐतिहासिक कथानकों की ओर गया और इस दिशा में यशपाल की 'दिव्या' तथा राहुल जी के 'वोल्गा से गंगा', 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय' आदि श्रेष्ठ प्रयत्न हुए। अतीत की विकासोन्मुखी शक्तियों को पहचानकर और उन्हें उपन्यास के सजीव पात्रों के रूप में मूर्तिमान करके इन ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने वर्तमान युग के मुक्तिकामी जनसमुदाय को शक्ति और स्फूर्ति दी।

इस क्षेत्र में अपने-अपने ढंग से जो अन्य लेखकों ने काम किया, उनमें 'झाँसी की रानी' के लेखक वृन्दाबनलाल वर्मा, 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के लेखक हजारी प्रसाद द्विवेदी और 'बहती गंगा' के लेखक शिवप्रसाद मिश्र रुद्र का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

इस युग में प्रगतिवादी विवेक जिस बद्धमूल संस्कार के विरुद्ध आरंभ से ही संघर्ष करता रहा और फिर भी उसे यथोचित सफलता नहीं मिल सकी, वह है उपन्यासकारों के नारी-संबंधी बोर्ज़्वा संस्कार। राहुल, यशपाल और अश्क जैसे जागरूक तथा प्रगतिशील उपन्यासकार भी अपनी सेक्स संबंधी कमज़ोरी से मुक्त न हो सके। इनमें से यशपाल में यह विकृति सबसे अधिक है। अश्क के 'गरम राख' उपन्यास से लगता है कि लेखक 'गिरती दीवारें' के मलवे से निकलने की कोशिश कर रहा है, फिर भी वह अश्लील यौन-प्रसंग की योजना से न बच सका। राहुल जी इन दोनों लेखकों से अपेक्षाकृत संयत हैं, लेकिन उनमें दिन पर दिन यह कमज़ोरी बढ़ती जा रही है जैसा कि उनके नवीनतम उपन्यास 'मधुर स्वप्न' से विदित होता है।

वस्तुतः इस विषय में हमारे वर्तमान मध्यवर्गीय समाज की परिस्थिति इतनी भयंकर है कि जब तक कोई व्यापक जन-जागरण नहीं होता, इस यौन-विकृति से जल्दी निस्तार मिलना कठिन है।

इतना होते हुए भी इसी युग में दूसरे अनेक लेखक ऐसे हैं जिन्होंने नारी का अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ चित्रण किया है। नागार्जुन की 'रतिनाथ की चाची' इस दिशा में सफलतम प्रयत्न है। वृन्दावन लाल वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी और विष्णु प्रभाकर के भी नारी पात्र अधिक स्वस्थ, संयत तथा शक्तिशाली हैं।

कुल मिलाकर कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद कविता की अपेक्षा अधिक व्यापक और सफल हुआ, यह निःसन्देह कहा जा सकता है।

६.

कविता, कहानी, उपन्यास इत्यादि के क्षेत्र में प्रगतिशील लेखकों ने जिस सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि से रचना-कार्य किया, उसे आलोचना के क्षेत्र में एक सुनिश्चित ऐतिहासिक, सामाजिक साहित्य-सिद्धान्त का रूप दिया गया। छायावादी और प्रयोगवादी दृष्टियों ने भी आलोचना के क्षेत्र में कुछ छिट-पुट विचार रखे हैं, लेकिन उन्होंने साहित्य संवंधी अपने विचारों को सुव्यवस्थित सिद्धान्त का रूप नहीं दिया। इसके विपरीत प्रगतिवाद ने आलोचना के मान स्थिर किए और उसके अनुसार सामान्यतः समूची साहित्य-परम्परा का और विशेष रूप से अपने समकालीन साहित्य का मूल्यांकन भी किया। इस तरह प्रगतिवाद ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा के द्वारा साहित्य को बदलने और विकसित करने में नेतृत्व किया।

प्रगतिवाद से पूर्व हिन्दी आलोचना में मुख्यतः तुलना और व्याख्या का कार्य हो रहा था। आलोचक प्रायः साहित्यिक कृतियों की यथाशक्ति व्याख्या करके उसमें निहित सौन्दर्य का उद्‌घाटन करते थे और फिर उस सौन्दर्य के आधार पर उसकी श्रेष्ठता का निरूपण करते थे। आचार्य शुक्ल की गूढ़ दृष्टि ने व्याख्या के इस कार्य में अद्‌भुत क्षमता का परिचय दिया। उन्होंने अपने सजग सौन्दर्य-बोध और गहरी रसग्राहिणी शक्ति के द्वारा लेखकों और पाठकों के मन में उच्च कोटि के साहित्य-संस्कार अथवा रुचि का बीज वपन किया। उनके प्रयत्न से लोगों के मन में चमत्कार और वास्तविक रस में अंतर करके साहित्य को परखने की क्षमता आई।

लेकिन आचार्य शुक्ल ने इससे भी आगे बढ़कर एक और काम किया। उन्होंने अपने सौन्दर्य-बोध तथा रसानुभूति को शुद्ध आनन्द की स्थिति से ऊपर उठाकर लोक-मंगल की उदात्त सामाजिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित किया। उनका विचार था साहित्य केवल आनंद देने की वस्तु नहीं है, बल्कि उसे लोक-मंगल के लिए प्रयत्न भी करना चाहिए। इसी दृष्टि से उन्होंने तुलसीदास के साहित्य को सूरदास की रचना से श्रेष्ठ ठहराया क्योंकि उनके विचार से तुलसी में सूर की अपेक्षा लोक-मंगल की भावना अधिक थी। शुद्ध आनंदवाले साहित्य को वे 'लोक-मंगल की सिद्धावस्था' कहते थे और सामाजिक कल्याणवाले साहित्य को 'लोक-मंगल की साधनावस्था'।

अपनी इस स्थापना के द्वारा शुक्ल जी ने समीक्षा को निष्क्रिय व्याख्या से आगे बढ़ाकर सक्रिय परिवर्तनकारी सामाजिक शस्त्र के रूप में प्रतिष्ठित किया।

आवश्यकता इस कार्य को आगे बढ़ाने की थी और प्रगतिवाद ने आगे बढ़कर शुक्ल जी की इस विरासत को यथोचित रूप देने का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लिया।

प्रगतिशील आलोचकों ने अनुभव किया कि ऐसे समय जब कि सामाजिक संकट गहरा हो गया हो और देश के बहुसंख्यक लोगों का जीवन इतना विषाक्त कर दिया गया हो, साहित्य के ब्रह्मानंद की चर्चा करना बेकार है। जब अधिकांश लोगों को किसी तरह जीना मुहाल हो, उन्हें साहित्य में शुद्ध आनंद लेने का उपदेश देना उनका अपमान करना है। इसलिए प्रगतिशील लेखकों ने आवाज़ लगाई कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य है जनता को संघर्ष के लिए शक्ति देना तथा उस संघर्ष में विजय प्राप्त करके मुक्त होने के लिए मार्ग दिखाना।

यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि शुक्ल जी के 'लोक-मंगल' में जो 'लोक' था, वह अब प्रगतिवाद में आकर 'जनता' हो गया। यह परिवर्तन परिस्थितियों के अनुरूप ही था। वर्ग-भावना अब अधिक स्पष्ट हो गई थी। और ऐसे समय 'लोक-मंगल' को कुछ और स्पष्ट करने की आवश्यकता थी। प्रगतिवाद ने अपने नाम के साथ ही यह संकेत कर दिया कि साहित्य प्रतिगामी अथवा प्रतिक्रियावादी भी होता है। 'प्रगतिशील

शब्द सापेक्ष अर्थ का बोधक है। कोई भी घटना-प्रवाह किसी की तुलना ही में प्रगतिशील होगा।'

इस तरह प्रगतिवाद ने अपना ध्यान साहित्य में प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील तत्वों में भेद करने की ओर दिया। क्योंकि समाज और साहित्य की प्रगति के लिए प्रतिक्रियावादी तत्वों की आलोचना करना और उन्हें मिटाना साहित्यकार का कर्तव्य है। इस दृष्टि से प्रगतिवाद ने संपूर्ण साहित्य-परंपरा और फिर समकालीन साहित्य का विश्लेषण किया।

लेकिन यह उद्देश्य जितना महान् है, उसकी पूर्ति उतनी ही कठिन है। सही ऐतिहासिक सूझ के बिना इसमें अनेक गलतियाँ हो सकती हैं और प्रगतिशील समीक्षा से भी ऐसी गलतियाँ हुईं; फिर भी औरों की तरह प्रगतिवादी लेखकों ने भी अपनी गलतियों से ही सीख ली। आरंभ में प्राचीन प्रतिक्रियावादी रूढ़ियों के साथ उन्होंने समस्त प्राचीन परंपरा को ही प्रतिक्रियावादी सिद्ध कर दिया; शुरू-शुरू में रूढ़ि और परंपरा का अंतर उन्हें न सूझा। उन्होंने धार्मिक आवरण में व्यक्त होनेवाले पूरे भक्तिकाव्य को उठा फेंका—उसमें छिपी हुई ऐतिहासिक विषय वस्तु अथवा जनवादी भाव-धारा उन्हें न दिखी। इसी तरह छायावादी कविता की पलायन-भावना का विरोध करते-करते वे समूचे छायावाद की आलोचना करने पर उतारू हो गए।

किन्तु पीछे तुलसी-साहित्य और छायावाद पर स्वस्थ प्रगतिशील समीक्षाएँ लिखकर प्रगतिवादी आलोचकों ने प्रमाणित कर दिया कि सही एतिहासिक दृष्टि परम्परा का कितना सही मूल्यांकन कर सकती है। इस दृष्टि से रामविलास शर्मा के तुलसीदास और निराला-पंत संबंधी निबंध मननीय हैं; त्रुटियाँ इन निबंधों में भी हो सकती हैं लेकिन इनसे नई दिशा में सोचने की प्रेरणा मिलती है।

परंपरा का मूल्यांकन इतना कठिन कार्य है कि एक व्यक्ति अथवा युग या विचारधारा द्वारा उसका अंतिम निर्णय हो सकना असंभव है। इस विषय में शुक्ल जी जैसे समर्थ समीक्षक से भी भूलें हुई हैं। फिर भी इस दिशा में प्रगतिवादी समीक्षा-प्रणाली ने जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया

वह यह है कि परंपरा के प्रतिगामी तत्वों को अलगाकर उसमें अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित और विकसित होनेवाले प्रगतिशील तथा जीवंत तत्वों को उभारकर सामने रखा। उन्होंने यह प्रमाणित किया कि साहित्य की प्रगतिशील परंपरा जनवाद की परंपरा है—इसकी मुख्य प्रेरक शक्ति जनता है, जो पुरोहितों, महंतों, राजाओं, नवावों, वादशाहों, सेठों और साहूकारों के अत्याचार झेलती हुई भी जातीय प्राण-शक्ति को निरंतर जीवनदान देती हुई आगे वढ़ाती चली आ रही है।

परंपरा के ऐसे मूल्यांकन से वर्तमान परिस्थितियों में जनता तथा जनता के लेखकों को कितनी शक्ति प्राप्त हुई है, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

इसी दृष्टि से समालोचना करके प्रगतिशील लेखकों ने अपने समकालीन साहित्य में भी फैले हुए आध्यात्मिक कुहासा, कुंठावादी गानों और यौन-कर्दम को साफ़ करने में कितना बड़ा कार्य किया—यह किसी से छिपा नहीं है। यदि प्रगतिवादी समीक्षा-प्रणाली न होती तो ये अस्वस्थ साहित्यिक प्रवृत्तियाँ साहित्य के विकास में कितनी बाधा पहुँचातीं, कहना कठिन है! यह तो प्रगतिवाद के विरोधी भी मानते हैं कि प्रगतिशील आलोचकों ने साहित्य में स्वस्थ सामाजिक रुचि का संस्कार पैदा किया है और रुचि-निर्माण कितना महत्त्वपूर्ण कार्य है, इसे सभी जानते हैं।

समीक्षा के क्षेत्र में प्रगतिवाद की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन यह है कि समीक्षा की मौलिक समस्या यह नहीं है कि कौन रचना कितनी सुन्दर है; मौलिक समस्या यह है कि रचना में वह सौन्दर्य और शक्ति आती कहाँ से है? जव तक हम इस समस्या का उत्तर नहीं देते तव तक हम रचनात्मक समीक्षा करते ही नहीं। इसके बिना समीक्षा निष्क्रिय है।

इस प्रश्न के उत्तर में भाववादी विचारक यह कहकर बरी हो जाते हैं कि रचना में सौन्दर्य रचयिता की अपनी प्रतिभा से आता है और यह प्रतिभा लेखक की एकदम अपनी चीज है, अथवा ईश्वर-प्रदत्त है या पूर्वजन्म के पुण्य का फल है या पैतृक उत्तराधिकार है।

हम यह सब मानकर चुप हो जाते लेकिन जब सुमित्रानंदन पंत, जैनेन्द्र कुमार, निराला जैसे प्रतिभासम्पन्न लेखकों को आज पहले से निकृष्ट लिखते हुए देखते हैं तो जानना चाहते हैं कि वह ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा कहाँ गई ? होना तो यह चाहिए था कि अनुभव और वय के अनुसार उनकी रचनाओं में प्रौढ़ता आती। लेकिन यहाँ तो क्रमशः ह्रास हो रहा है। यदि वह शक्ति लेखक के भीतर से ही आती है तो अब क्यों नहीं आती ?

इस सवाल का जवाब केवल प्रगतिशील समीक्षा दे सकती है और देती है। उसका कहना है कि लेखक में शक्ति जनता से आती है; जनता के साथ उसका संबंध जितना ही घनिष्ठ होता है, उसमें उतनी ही अधिक रचनाशक्ति आती है और उसकी रचना में उतना ही अधिक सौन्दर्य बढ़ता है। इसके विपरीत ज्योंही लेखक अपने उस अक्षय स्रोत से हट जाता है, उसकी सारी शक्ति जवाब दे जाती है। हिरण्यकश्यप की तरह उसकी मृत्यु तभी होती है जब उसका पाँव धरती से उठ जाता है।

इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए प्रगतिशील समीक्षा यह भी निष्कर्ष निकालती है कि श्रेष्ठ रचना करने के लिए साहित्यकार को अनिवार्य रूप से जनता का पक्षधर होना ही पड़ेगा। जो लोग यह प्रचारित करते हैं कि साहित्यकार सभी वर्गों से ऊपर होता है, वह निष्पक्ष होता है और श्रेष्ठ साहित्य-रचना के लिए वर्गहितों से ऊपर उठना ज़रूरी है—उनकी धारणाओं का प्रगतिवाद सप्रमाण खण्डन करता है। वाल्मीकि, व्यास, तुलसी, प्रेमचंद के उदाहरणों से स्पष्ट है कि ये श्रेष्ठ साहित्यकार तमाम वर्गों से ऊपर और निष्पक्ष नहीं थे। इन सभी साहित्यकारों ने पीड़ित, दलित और सताए हुए का पक्ष लिया था और इसी तरफ़दारी के कारण उनमें उच्च कोटि की मानवतावादी भावनाएँ थीं। जब कि समाज में स्वार्थों का संघर्ष हो तो मानवता दलित लोगों के पक्ष में होती है, तटस्थता में नहीं होती।

लेकिन इस स्थापना में कभी-कभी अपवाद भी प्रतीत होता है। जैसे तुलसीदास ने अपनी रामायण में शूद्रों का विरोध किया है, फि र

उन्होंने इतनी श्रेष्ठ कृति की रचना कर दी। यह कैसे संभव हुआ? परंतु ऐसा कहनेवाले भूल जाते हैं कि तुलसीदास ने उसी रामायण में गुह, निषाद, शबरी इत्यादि को स्वयं राम द्वारा स्नेह और सम्मान दिलाया है। इससे पता चलता है कि महाकवि के हृदय में नीच कही जानेवाली जातियों के प्रति घृणा का भाव नहीं था; घृणा का भाव उनकी नीचता के प्रति था और यह नीचता उन्हें यदि गुरु का अपमान करनेवाले 'उग्र बुद्धि उर दंभ विशाला' ब्राह्मण कुमार में भी दिखाई पड़ी तो वे सहन न कर सके। वस्तुतः उन्होंने नीच कहे जानेवाले लोगों में भक्ति की संजीवनी भरकर उन्हें अमर कर दिया, साथ ही ऊँचे आसन पर ला बिठाया।

तात्पर्य यह है कि महान् लेखकों ने वस्तुतः जनता से घृणा कभी नहीं किया। जनता से घृणा करके आज तक कोई महान् लेखक नहीं हो सका है। यदि कोई महान् लेखक अपने वर्गगत संस्कारों के कारण कभी इस तरह के विचार प्रकट भी करता है, तो भीतर से उसका मानवतावादी विवेक उसके संस्कारों के विरुद्ध दलितों और शोषितों का वास्तविक चित्रण कर जाता है।

और यहीं प्रगतिशील समीक्षा एक और स्थापना करती है। वह यह है कि रचना में सौन्दर्य वास्तविकता के अधिक-से-अधिक चित्रण से आता है। अपने दृष्टिकोण-विशेष के बावजूद महान् लेखक अपनी व्यापक मानवीय सहानुभूति के द्वारा वास्तविकता के विविध स्तरों का व्यापक परिचय प्राप्त कर लेते हैं और उनके चित्रण से रचना महान् हो उठती है। व्यापक सामाजिक सम्पर्क और अनुभव से लेखक की रचना में रसोद्रेक की अधिकाधिक क्षमता आती है। इसीलिए प्रगतिवाद साहित्य में यथार्थवाद को सर्वोपरि स्थान देता है। प्रगतिवाद की मान्यता है कि मन भर कल्पना से छटाँक भर वास्तविकता अधिक समर्थ और मूल्यवान् है। निःसन्देह कल्पना में भी बहुत शक्ति होती है, लेकिन उसकी भी शक्ति का आधार वास्तविकता है। कालिदास के 'मेघदूत' में पंत के 'बादल' से जो अधिक स्थायी रसानुभूति है, वह इसीलिए कि उसमें वास्तविकता अधिक है और इसमें

कल्पना। इसी वास्तविकता की व्यापकता तथा गहराई के कारण 'महाभारत' भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ काव्य माना जाता है।

लेखक में वास्तविकता का यह बोध अपनी सामयिक समस्याओं में भाग लेने से आता है। इसलिए प्रगतिवाद की दूसरी स्थापना यह है कि सामयिकता के माध्यम से ही शाश्वत साहित्य की रचना की जा सकती है। अपने समय की समस्याओं से अलग रहकर अथवा भागकर कोई शाश्वत साहित्य की रचना नहीं कर सकता। अब यह आगे की बात है कि लेखक अपने युग की सामयिक वास्तविकता का चित्रण किस प्रकार करता है। स्वाभाविक है कि जो बिना समझे-बूझे सेठ गोविन्ददास के 'इन्दुमती' उपन्यास की तरह घटनाओं का लेखा-जोखा कर डालेगा तो निकृष्ट रचना करेगा। और जो समझ-बूझकर संकलन-बुद्धि से सूक्ष्म मानवीय संबंधों और रागात्मक स्थितियों का चित्रण करेगा वह श्रेष्ठ कृति देगा। बहते हुए कणों में जो शक्ति के प्रवाह को पकड़ेगा वह शक्तिशाली तथा शाश्वत महत्त्व की रचना करेगा और जो केवल उसके कण गिनकर बटोरता रहेगा वह साहित्य का केवल भार बढ़ाएगा।

इस तरह प्रगतिवाद ने साहित्य की परख के मान को **ऐतिहासिक** आधार दिया। जहाँ अपनी-अपनी रुचि तथा समझ के अनुसार कविता की अच्छाई-बुराई, श्रेष्ठता-निकृष्टता का निर्णय होता था (और जो कि प्रायः नहीं हो पाता था) वहाँ प्रगतिवाद ने सबसे पहले किसी रचना के ऐतिहासिक महत्त्व को जाँचने का सुझाव दिया। प्रगतिवाद के अनुसार व्यक्तिनिष्ठ (सब्जेक्टिव) ढंग से किसी रचना का मूल्यांकन कठिन ही नहीं, भ्रामक भी है। रचना को उसकी ठोस सामाजिक पीठिका में रखकर देखना चाहिए कि वह समाज के विकास में कितना योग देती है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी रचना की श्रेष्ठता और निकृष्टता इस बात पर निर्भर है कि वह विकासोन्मुख है अथवा ह्रासोन्मुख। प्रगतिवाद ने समीक्षा के नितान्त शुद्ध साहित्यिक मानदण्ड का विरोधकर स्वस्थ सामाजिक मानदण्ड की प्रतिष्ठा की। प्रगतिवाद के अनुसार वह तथाकथित 'शुद्ध साहित्यिक मान-

दण्ड' भी सर्वथा समाज-निरपेक्ष नहीं हैं; बल्कि वह वस्तुतः समाज की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों की छाया है। इस 'शुद्ध साहित्यिक मानदण्ड' को कुछ लोगों ने शाश्वतता का गौरव दे रखा है। इस काल्पनिक 'शाश्वतता' का खंडन करते हुए प्रगतिवाद ने स्थापित किया कि किसी रचना का शाश्वत मूल्य उसके ऐतिहासिक मूल्य में ही निहित है और ऐसे ही ऐतिहासिक मूल्यों से समीक्षा के क्षेत्र में एक परंपरा बनती है जिसके आधार पर प्राचीन से लेकर आधुनिक साहित्य का तुलनात्मक मूल्यांकन किया जा सकता है। इस तरह प्रगतिवाद ने समीक्षा को व्यक्तिनिष्ठता, भाववादी पूर्वग्रह तथा जड़ता से मुक्त करके उसके स्थान पर स्वस्थ, वैज्ञानिक, बोधगम्य, विकासक्षम, वस्तुनिष्ठ और जन-कल्याणकारी 'ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति' की प्रतिष्ठा की।

समालोचना के क्षेत्र में प्रगतिवाद की ये कुछ मौलिक और मुख्य स्थापनाएँ हैं। इनसे एक हद तक इस युग के प्रायः सभी आलोचक और लेखक प्रभावित हुए हैं। जनता के साथ, वास्तविकता के साथ जिस आलोचक का जैसा संबंध है, उसी के अनुसार ये स्थापनाएँ उसके व्यवहार में आ सकी हैं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रगतिवादी समीक्षा-प्रणाली की परंपरा अभी बन रही है और उम्मीद है कि निरंतर आलोचना-प्रत्यालोचना से इसके सिद्धान्त और प्रयोग में वैज्ञानिकता आती जायगी।

७.

कविता, कहानी, उपन्यास और आलोचना में प्रगतिवाद की जिस प्रकार अभिव्यंजना हुई है उसे देखते हुए अनेक त्रुटियों के बावजूद यह कहा जा सकता है कि छायावाद युग के बाद की यह प्रमुख और प्रगतिशील साहित्य-धारा है। इस युग की अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियों की तुलना में कुछ लोगों को इसमें अधिक कचाई, अनगढ़ता तथा कम स्थायित्व प्रतीत हो सकता है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिवाले विचारक जानते हैं कि आज जो अधिक टिकाऊ किन्तु ह्रासोन्मुख दिखाई पड़ रहा है उसकी अपेक्षा उसका महत्त्व कहीं अधिक है जो आज कम टिकाऊ किन्तु विकासोन्मुख है। इस दृष्टि

से देखने पर प्राणशक्ति और भविष्य की संभावना वर्तमान प्रगतिशील साहित्य में सबसे अधिक है।

छायावादी कविता, प्रेमचंद का कथा-साहित्य और शुक्ल जी की आलोचना के मुकाबले आज के प्रगतिशील साहित्य को रखकर सिर धुनना बुद्धिमानी नहीं है। अतीत सुन्दर है लेकिन लौटाया नहीं जा सकता। भक्ति-काव्य की तुलना में छायावादी काव्य भी तो थोड़ा नीचे पड़ता है और कालिदास के मुकाबले भक्तिकाव्य भी तो कम तुलता है; लेकिन इसे देख-कर कोई विलाप नहीं करता। श्रेष्ठ साहित्यकार रोज़ रोज़ नहीं पैदा होते और न श्रेष्ठ कृतियाँ हर क्षण लिखी जाती हैं। वे सम्पूर्ण ऐतिहासिक विकास का परिणाम होती हैं। उनके पीछे जातीय उत्थान की शक्ति होती है। इधर प्रगतिवाद जिस जन-जागरण के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुआ, अभी वह जन-जागरण ही विकास के मार्ग में है और अभी वह परिणति को प्राप्त नहीं कर सका है। ऐसी दशा में हम शाश्वत साहित्य के अभाव में बालकों की तरह आँसू बहाना छोड़कर यदि दृढ़ता के साथ जनता के प्रति और अपने प्रति उत्तरदायित्व पूरा करते चलें तो अधिक रचनात्मक कार्य कर सकेंगे।

प्रगतिवाद के विषय में आज के युगद्रष्टा समीक्षक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन केवल भविष्य की संभावना की ओर ही नहीं बल्कि जिस वस्तुस्थिति से वह संभावना प्रकट होती है उसकी ओर भी संकेत करता है—"प्रगतिशील आन्दोलन बहुत महान् उद्देश्य से चालित है। इसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी सम्भावनाएँ अत्य-धिक हैं। भक्ति आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आदर्श-निष्ठा दिखाई पड़ी थी, जो समाज को नये जीवन-दर्शन से चालित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रगट हुई थी उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है।"[१]

---

१. हिंदी साहित्य, पृ० ५००

प्रयोगवाद

१.

हिन्दी कविता के पाठकों में 'प्रयोगवाद' की चर्चा 'तार-सप्तक' कविता-संग्रह ('४३ ई०) से शुरू हुई; 'प्रतीक' पत्रिका (जुलाई ४७–५२ ई०) से उसे वल मिला और 'दूसरा सप्तक' कविता-संग्रह ('५१ ई०) से उसकी स्थापना हुई। इसका मतलब यह नहीं है कि इन सबमें जितनी कविताएँ छपीं, सभी प्रयोगवाद हैं। कविताएँ तो प्रतीक में मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानंदन पंत और नवीन से लेकर नागार्जुन, त्रिलोचन आदि तक की छपीं। और सप्तकों में भी रामविलास शर्मा तथा भवानीप्रसाद मिश्र को रखा गया है। लेकिन 'प्रयोगवाद' संबंधी जो औसत धारणा बनी है, वह इन सबके बावजूद केवल अज्ञेय, गिरजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र, भारतभूषण, शमशेर, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता आदि की रचनाओं के आधार पर।

प्रयोगवाद का एक दूसरा पहलू विहार के नलिनविलोचन, केसरी और नरेश के 'नकेनवादी' प्रपद्यपद्यों द्वारा सामने आया जो अपनी समझ से अज्ञेय के प्रयोगवाद का विरोध करते हुए भी वस्तुतः उसी की एक शाखा हैं।

'प्रयोगवाद' नाम चलने का कारण 'तार-सप्तक' के संपादकीय तथा कुछ अन्य वक्तव्यों को है। इस संज्ञा के बीज वहीं हैं। उनमें 'प्रयोग' और 'प्रयोगशीलता' को साफ़ शब्दों में अपनी विशेषता कहा गया है। मालूम होता है, पाठकों ने इन कवियों के 'प्रयोग-प्रयोग' के लटके को पकड़ लिया और उनकी कविताओं को 'प्रयोगवाद' नाम दे दिया। यह 'प्रयोग' शब्द अंग्रेजी कविता में प्रचलित 'एक्सपेरिमेंट' के ही वज़न पर हिंदी में चला था, लेकिन हिंदी में जो 'प्रयोगवाद' चल पड़ा, उसके लिए अंग्रेजी में 'एक्सपेरिमेंटलिज़्म' नामक कोई वाद नहीं है। जिस तरह हिंदी की रोमैंटिक कविताओं के लिए अंग्रेजी 'रोमैंटिसिज़्म' का ठीक-ठीक अनुवाद न करके स्वतंत्र रूप

से 'छायावाद' संज्ञा दी गई, उसी तरह कविता में होनेवाले नये प्रयत्नों को 'प्रयोगवाद' नाम दे दिया गया। नामकरण प्रायः इसी तरह औचित्य-अनौचित्य का ध्यान रखे बिना ही हो जाता है, इसीलिए 'प्रयोगवाद' नाम की सार्थकता-निरर्थकता को लेकर बहस करना बेकार है। 'प्रयोगवाद' नाम निरर्थक और अपर्याप्त होते हुए भी हिंदी साहित्य के इतिहास में अब स्थापित तथ्य है। इससे अब एक निश्चित काव्य-प्रवृत्ति का बोध होता है; प्रचलन से इसमें पर्याप्त अर्थवत्ता आ गई है।

'प्रयोगवाद' नाम के साथ जुड़े हुए इस लोक-प्रचलित अर्थ से बचने के लिए प्रयोगवादी कवियों ने अब इस नाम को छोड़ देने का नारा दिया है। इस बारे में उनका कहना है कि 'प्रयोग तो सभी काल के कवियों ने किए हैं' इसलिए हमें "प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना 'कवितावादी' कहना।"

हिंदी कविता के पाठक जानते हैं कि छायावादी कवियों ने भी आत्म-रक्षा के लिए वेद में भी 'छायावाद' को ढूँढ़ निकाला और सिद्ध किया कि छायावाद का जन्म तो कविता के साथ ही हुआ है। वस्तुतः हर युग का बुद्धिजीवी अपने युग के सत्य को युग-युग के सनातन और शाश्वत सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता है और इसी सामान्यीकरण में उसकी बौद्धिकता निहित है।

इधर प्रयोगवादी कविताओं के लिए 'नई कविता' नाम का प्रचार किया जा रहा है; लेकिन 'नया' विशेषण से नवजीवन को जिस ताज़गी का बोध होता है वह इन कविताओं में नहीं है। इनका नयापन केवल पूर्ववर्ती कविताओं से 'भिन्नता' में ही है और हर युग की कविता अपने पूर्ववर्ती युग से कुछ-न-कुछ भिन्न अथवा नई होती है, इसलिए 'नई कविता' नाम में अतिव्याप्ति दोष है।

'प्रयोगवाद' से कुछ लोगों का अभिप्राय केवल 'रूपवाद' अथवा 'फ़ॉर्म-लिज़्म' है; लेकिन 'रूपवाद' प्रयोगवाद की एक शाखा-मात्र है। सभी प्रयोग-वादी कवि केवल रूप-विधान तथा टेकनीक पर ही ध्यान नहीं देते; ऐसे कवि और ऐसी रूपवादी कविताएँ थोड़ी हैं।

'प्रयोगवाद' कोरे रूपवाद से अधिक व्यापक प्रवृत्ति तथा विचारधारा का वाहक है जिसमें थोड़े-थोड़े से अंतर के साथ अनेक ह्रासोन्मुखी मध्य-वर्गीय मनोवृत्तियों और चिन्तनधाराओं का समावेश हो गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रयोगवाद उत्तर-छायावाद की समाज-विरोधी अतिशय व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का ही बढ़ाव है।

२

प्रयोगवाद के पन्द्रह वर्षों का इतिहास व्यक्तिवाद के दो सीमान्तों के बीच फैला हुआ है—इनमें से एक सीमान्त है मध्यवर्गीय परिवेश के प्रति मध्यवर्गीय कवि का वैयक्तिक असंतोष और दूसरा सीमान्त है जन-जागरण से डरे हुए कवि की आत्म-रक्षा की भावना। कुल मिलाकर यह चरम व्यक्तिवाद ही प्रयोगवाद का केन्द्र-विन्दु है और विभिन्न राजनैतिक, नैतिक, सामाजिक मान्यताओं के रूप में यह संकीर्ण व्यक्तिवाद अपने को व्यक्त करता रहता है।

वस्तुतः इस सदी के शुरू-शुरू में जिस मध्यवर्ग ने आत्मशोध तथा आत्म-विकास के साथ साहित्य, कला और संस्कृति संबंधी जो नवीन अभि-यान किया था, वही अपनी वैयक्तिक प्रवृत्ति के कारण क्रमशः समाज-विरोधी हो उठा और इस सदी का पूर्वार्ध समाप्त होते-न-होते हारकर अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए ही मजबूर हो गया। छायावाद के साथ इसका गौरवशाली आरंभ हुआ और अब प्रयोगवाद में उसका दयनीय पर्यवसान हो रहा है। किसी समय जो व्यक्ति-केन्द्र असीम के विराट वृत्त के रूप में आत्म-विकास कर रहा था अब वह केवल केन्द्र के रूप में ही सिमटकर अपने बचाव के उपाय सोचने लगा।

जिस औद्योगिक विकास ने मध्यवर्ग को जन्म दिया और मध्यवर्ग में भी बुद्धिजीवी संवेदनशील कवि को जिसने नवीन शिक्षा तथा ज्ञान के द्वारा प्रकृति और समाज को देखने-परखने की अन्तर्दृष्टि दी, उसीने धीरे-धीरे सम्पूर्ण समाज में निर्मम आर्थिक संबंधों की स्थापना कर दी और स्वयं

मध्यवर्ग के भी भीतर बढ़ते हुए श्रम-विभाजन के कारण अनेक स्तर बन गए जिनमें कवि की स्थिति सबसे अधिक दयनीय हो उठी। ऐसे स्तर-भेद-वाले बाज़ारू समाज की कठोर वास्तविकताओं ने छायावादी कवि को भावुकता का सारा रस सुखा दिया और साथ ही उसके आकाशगामी कल्पना-पंख को भी तोड़ डाला। सूर्य को छूने के लिए जो संपाती चला था, उसके पंख उस असह ज्वाला से जल गए और वह पक्षी अंत में धरती पर उतरने के लिए विवश हो गया। उसकी स्थिति ग्रीक-पुराणों के 'आइकेरस' की-सी थी जिसने उड़ान तो ऊँची भरी किन्तु उसे पता नहीं था कि उसके पंख मोम के हैं; फलतः वास्तविकता के तीव्र ताप में वे मोमी पंख पिघल गए और प्रवंचित 'आइकेरस' को नीचे गिरना पड़ा। 'इत्यलम्' के आरंभ में अज्ञेय ने फ्रांसीसी कवि बॉदलेयर की 'आइकेरस का विलाप' से अनुलिखित उद्धरण देकर मध्यवर्गीय कवि की इसी विवशता की ओर संकेत किया है—

"किन्तु मैं—मेरी भुजाएँ टूट गई हैं
क्योंकि मैंने उनकी परिधि में मेघों को बाँध लेना चाहा था।"

निःसन्देह मध्यवर्गीय कवि की कल्पना के पंख मोम के ही थे और यह वर्ग अपने कवि को इसी तरह धोखा देता आया है। परंतु वास्तविकता यह है कि छत्तीस के आस-पास तक यह 'आइकेरस' अथवा संपाती आकाश-च्युत होकर एकदम धरती पर नहीं आ गिरा था। जैसा कि अज्ञेय के तत्कालीन निबंध-संग्रह के 'त्रिशंकु' नाम से विदित होता है, तब तक वह मध्यवर्गीय कवि अधर में ही लटका हुआ था। उस समय तक वह अपने मध्यवर्गीय परिवृत्ति से संघर्ष करता हुआ फिर से 'ऊपर' उड़ने के लिए प्रयत्नशील था।

पहले तो कवि ने अपनी 'सामाजिक अनुपयोगिता' के विरुद्ध अपनी उपयोगिता प्रमाणित करने का प्रयत्न किया; ऊँचे व्यवसायियों, राजकर्मचारियों, डाक्टरों, वकीलों, इंजीनियरों आदि के परम उपयोगी समाज के बीच उसने कविता की उपयोगिता और उसके साथ ही अपनी उपयोगिता तथा महत्त्व प्रमाणित करना चाहा;[1] परंतु इसमें सफलता न मिलने पर

१. देखिए —त्रिशंकु, 'कला का स्वभाव और उद्देश्य'; पृ० २३

'तोषप्रद सामाजिक परिवृत्ति के लिए माँग' आरंभ की।[1] अपने मन के अनुकूल समाज-व्यवस्था के लिए उसने अकेले-अकेले प्रतिरोध भी किया। अनुकूल सामाजिक परिवृत्ति के अभाव में जिन कवियों में 'घर की याद के दौहृद' का-सा भाव दिखाई पड़ा, उसकी उसने आलोचना की; 'एकान्त संगीत' वाले बच्चन के विषण्ण आर्तनाद को पलायनवाद कहकर उसे अनुचित बतलाया; जैनेन्द्र के 'अबुद्धिवाद' को 'आधुनिक बौद्धिक उलझन से पलायन का परिणाम' तथा 'एक पुरानी, अधिक सरल, आयासहीन जीवन-चर्या की ओर जाने की चेष्टा से अनुप्राणित' ठहराया। और यह भी दिखलाया कि इन्हीं सब की तर्कसंगत परिणति 'मृत्यु-उपासना' का वह भाव है जिसमें "मृत्यु का 'चिरनिद्रा' अथवा 'मुक्ति' रूप में आह्वान और स्वागत" किया जाता है।

इन सभी पलायनवादी प्रवृत्तियों का विरोध करके आरंभिक व्यक्तिवादी प्रयोगवाद ने 'प्रतिरोध' और 'युयुत्सु-भाव' का नारा दिया।

लेकिन उसके 'प्रतिरोध' और 'युयुत्सु-भाव' की सीमा थीं। उसकी 'युयुत्सा' संघर्ष अथवा विद्रोह में नहीं, बल्कि केवल 'पीड़ा-बोध' में थी। अपनी युयुत्सा को स्पष्ट करने के लिए अज्ञेय ने सियाराम शरण गुप्त की एक कविता उद्धृत की है जिसका निष्कर्ष इस प्रकार है:—

तुझे होगा जो पीड़ा-बोध
वही तेरे पथ-ऋण का शोध।

इस तरह वह 'अचेतनता' और 'मृत्यूपासना' के विपरीत 'पीड़ा-बोध' और 'जीवन-सम्पन्न-जागरूकता' का हिमायती है। लेकिन उसकी जागरूकता की भी सीमा है। वह अधिक-से-अधिक 'अनुभूति और परिस्थिति में कार्य-कारण-परम्परा जोड़ने की वृत्ति' है।[2] दूसरे शब्दों में यह जागरूक कवि अपनी अनुभूतियों के सामाजिक कारण को भी जानने की जिज्ञासा रखता है। और इस कारण-विश्लेषण के द्वारा वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है

१. वही, 'परिस्थिति और साहित्यकार'; पृ० ५०
२. त्रिशंकु—संक्रान्ति काल की कुछ साहित्यिक समस्याएँ, पृ० ७८

कि 'दुःखी और सुखी की कोई आत्यन्तिक श्रेणियाँ तो जीवन में हैं नहीं। दुःख, अपूर्णता, पीड़ा ये सर्वव्यापी हैं। गरीबों ने इनका ठेका नहीं लिया है।' यह निष्कर्ष मध्यवर्गीय कवि को सोचने के लिए विवश करता है कि 'क्यों न हम दोनों वर्गों से ऊपर उठकर सम्पूर्ण मानवता के गान गाएँ?'

अपने वर्ग के धनी-मानी और प्रतिष्ठित लोग निर्धन कवि को अपने बीच सम्मान देते नहीं और किसान-मजदूरों के बीच उतरकर सम्मानित होना उसके लिए हेठी है; न वह उनका गीत गा सकता है, न इनका। त्रिशंकु-स्थिति इसीको कहते हैं। इसीलिए वह इन सबसे परे रहकर काल्पनिक 'निष्पक्षता' का व्रत लेता है। लेकिन धीरे-धीरे इस 'निष्पक्षता' का भी व्रत टूटता है और वह अंत में अपना मंशा साफ़-साफ़ इन शब्दों में प्रकट करता है कि वह 'परिस्थिति' के **भीतर** ही अपने लिए एक 'सन्तोषजनक' परिवृत्ति गढ़ सकता है।[1] यह 'परिस्थिति' और कुछ नहीं वस्तुतः वह मध्यवर्गीय परिवृत्ति ही है। इस कवि की सारी जागरूकता यही सिखाती है कि किसी नवीन समाज-व्यवस्था की आकांक्षा छोड़कर अपनी पूर्व परिचित मध्यवर्गीय समाज-व्यवस्था में ही किसी तरह दिल बहलाने की चेष्टा करनी चाहिए; या तो वह समाज-व्यवस्था थोड़ी और भी लचीली होकर कवि के अनुकूल हो जाय अथवा स्वयं कवि ही थोड़ा-सा और झुककर उस समाज-व्यवस्था के अनुकूल हो जाय; दूसरे शब्दों में किसी प्रकार निम्न-मध्यवर्गीय व्यक्ति की आर्थिक और सामाजिक स्थिति कुछ अच्छी हो जाय—वह सेठों की तरह धनी भले न हो, परंतु स्वतः समर्थ अवश्य हो जाय। मतलब यह कि किसान-मजूर चूल्हे-भाड़ में जायँ, निम्न-मध्यवर्ग का यह बुद्धिजीवी व्यक्ति कुछ और ऊँचे चढ़ जाय।

इस तरह इस विद्रोही कवि का उच्च मध्यवर्ग तथा उसकी समाज-व्यवस्था के प्रति सारा असंतोष और युयुत्सु-भाव अंत में इस प्रस्ताव पर खत्म हुआ कि उसे संरक्षण प्राप्त हो। केवल इस टुकड़े पर उच्च-मध्यवर्ग का सारा अत्याचार और अपनी सारी पीड़ा भुलाई जा सकती है।

---

१. **त्रिशंकु, पृ० ८२**

लेकिन ऐसा दिखाई पड़ता है कि इस बार फिर मध्यवर्गीय कवि को धोखा हुआ; मोह-भंग उसका फिर हुआ। उसकी इस एकाकी 'याचना' की ओर उच्चवर्ग ने ध्यान नहीं दिया। ऐसी स्थिति में उसने अपने को सर्वथा निःसहाय अनुभव किया। उसने अपने को 'विस्थापित', 'नि-घरा', 'नि-जड़ा' तथा 'उखड़ा हुआ' अनुभव किया। कालक्रम से अज्ञेय ने घोषित किया कि यह 'निघरा' पन या 'नि-जड़ा' पन नये लेखक की पहली समस्या है।[1] इस 'नि-जड़ा' पन को अज्ञेय ने 'नदी के द्वीप' प्रतीक से व्यक्त किया है जिसमें कवि का व्यक्ति मध्यवर्गीय भू-खंड से निर्मित किन्तु विलग उस द्वीप के समान है जिसे जन-जीवन की स्रोतस्विनी निरंतर डुबाती, उखाड़ती, बहाती और फिर थोड़ी देर के लिए स्थापित करती चल रही है।[2]

मध्यवर्गीय परिवेश से सामाजिक रूप में कटकर भी मानसिक रूप से यह कवि उसके मोह को छोड़ने में जितना असमर्थ है, उतना ही असमर्थ जनजीवन के साथ तदाकार होने में भी है। फलतः इस प्लावन के सम्मुख उसका 'स्थिर समर्पण' है। इस 'स्थिर-समर्पण' में भी वैयक्तिक 'ऐंठ' निहित है। इस प्लावन की शक्ति से परिचित होते हुए भी मध्यवर्गीय कवि को विश्वास है कि उसका अस्तित्व किसी-न-किसी रूप में अवश्य सुरक्षित रहेगा। उसकी धारणा है कि नारियल, चिलम—एक एक करके सब कुछ बदल जाने पर भी हुक्का वही रहेगा।

इस तरह 'त्रिशंकु' के प्रतिरोध, असंतोष और सक्रिय जागरूकता से गिरते-गिरते प्रयोगवाद 'नदी के द्वीप' के स्थिर समर्पण, एकाकीपन और निष्क्रिय परितृप्ति में डूब गया।

उसने 'दुःख' को गौरवान्वित करके उसे 'फ़िलसफ़ा' का रूप दे दिया। वह दार्शनिक सूत्र यह है कि—

दुःख सबको माँजता है

और—

---

१. प्रतीक, जुलाई '५१ का संपादकीय।

२. 'नदी के द्वीप' कविता।

चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु—
जिनको माँजता है
उन्हें वह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।

'दुःख' के इस शोधक और मुक्तिदायक रूप को अज्ञेय 'शेखर' काल से ही मानते आ रहे हैं। लेकिन उस समय अज्ञेय का विचार था कि 'दुःख उसी की आत्मा की शुद्ध करता है, जो उसे दूर करने की कोशिश करता है।' (शेखर, भाग २, पृ० ३३) और इसीलिए उस समय वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि 'दर्द से भी बड़ा विश्वास है' (वही, पृ० ६६)। लेकिन 'नदी के द्वीप' की स्थिति तक आते-आते उससे 'दुख को दूर करने' की भावना भी चली गई और 'विश्वास' भी उठ गया। अब वह सोचता है कि 'दर्द तभी तक क्लेशकर होता है जब तक हम उससे लड़ते हैं, जब तक हम अपने अपनेपन को बनाए रखना चाहते हैं: विशाल के आगे अपने को **सर्मपित** कर देने के बाद सब क्लेश मानो झर जाते हैं।' (नदी के द्वीप, पृ० ३४६)।

इस समर्पण के बाद उसे अब व्यापक सामाजिक दर्द की अनुभूति भी नहीं होती; अब उसे केवल 'प्यार का दर्द' होता है; अब उसके लिए प्यार, दर्द, सत्य सभी पर्याय हो जाते हैं, और फिर ये सभी हो जाते हैं अज्ञेय! अनुभूति और विचार की इस दशा पर पहुँचकर सब किस्सा ख़त्म।

जिस कवि ने किसी समय यह लिखा था—

तुम्हारा यह उद्धत विद्रोही
घिरा हुआ है जग से, पर है सदा अलग निर्मोही!
जीवन-सागर हहर हहर कर
उसे लीलने आता दुर्धर
पर वह बढ़ता ही जाएगा लहरों पर आरोही!

(विश्वास : इत्यलम्)

और जिसने अपने आततायी परिवेश को ललकारते हुए चुनौती दी—

ठहर, ठहर, आततायी ! जरा सुन ले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा

(जनाह्वान : इत्यलम्)

उसी 'उद्धत विद्रोही' ने कुछ समय बाद 'उषःकाल' में अनुभव किया कि—

मैं ही हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता—
मैं ही वह मीनार-शिखर का प्रार्थी मुल्ला—
मैं वह छप्पर-तल का अहंलीन शिशु भिक्षुक—
और हाँ, निश्चय,
मैं वह तारक-युग्म,
अपलक द्युति, अनथक गति, बद्ध नियति
जो पार किए जा रहा नील मरु-प्रांगण नभ का

(उषःकाल की भव्य शान्ति : इत्यलम्)

और फिर 'कैरा' को निराशा-भरे स्वर में सुनाते हुए इलियट की यह कविता पढ़ी—

I said to my soul; Be still, and wait Without hope-

विना आशा, विना प्रेम और विना विश्वास के चिरप्रतीक्षा करते रहना क्योंकि आशा, प्रेम, विश्वास सभी प्रतीक्षा में है—नैराश्य और अनास्था की चरम अवस्था है।

इस नैराश्य और अनास्था के मूल में 'अहंवाद' है—इसे भी कवि पहचानता है और आत्म-समीक्षा के क्षणों में स्वीकार करता है—

अहं ! अन्तर्गुहावासी ! स्वरति ! क्या मैं चीन्हता
कोई न दूजी राह ?
जानता क्या नहीं निज में बद्ध होकर है नहीं निर्वाह ?

परंतु धीरे-धीरे यह बोध भी क्षीण हो जाता है और कवि अपने 'अहं', 'अन्तर्गुहावास', और 'स्व-रति' का औचित्य प्रमाणित करते हुए 'नदी के द्वीप' की युक्ति देता है—

किन्तु हम हैं द्वीप।
हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा।

× ×

द्वीप हैं हम।
यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है।

× ×

यदि ऐसा कभी हो
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्तिनाशा घोर
काल-प्रवाहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर
फिर छिनेंगे हम। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार।

प्रयोगवाद के दोनों सीमांतों को जिस तरह अज्ञेय की कविताएँ छूती हैं, उस तरह संभवतः अन्य प्रयोगवादी कवियों की रचनाएँ नहीं छूतीं; अन्य कवि इन्हीं सीमान्तों के बीच कहीं न कहीं स्थित हैं। इसके साथ यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि अज्ञेय की ही तरह सभी प्रयोगवादी कवियों ने अपने विचारों को स्पष्ट रूप से सैद्धान्तिक रूप नहीं दिया है।

प्रयोगवाद के आरंभिक युग में जब अज्ञेय मध्यवर्गीय परिवृत्ति के विरुद्ध वैयक्तिक असंतोष उगल रहे थे, नेमिचन्द्र, गजानन मुक्तिबोध, और भारत-भूषण काव्य-क्षेत्र में आए। अज्ञेय की तरह इन कवियों में भी घोर असंतोष था किन्तु अज्ञेय के विपरीत इन कवियों में अपनी मुक्ति के लिए नवीन

जन-आन्दोलन से तादात्म्य स्थापित करने की आकांक्षा भी थी। इसलिए इन कवियों में अज्ञेय के असंतोष से थोड़ा भिन्न एक नये ढंग की 'कशमकश' दिखाई पड़ती है। यह 'कशमकश' है 'संस्कार और विवेक की, आत्मस्थ होने की चाह को—असमर्थता को विवेक द्वारा चीर डालने' की कशमकश है। नेमि और मुक्तिबोध में यह कशमकश अधिक तीव्र तथा मार्मिक है और इन दोनों कवियों में भी मुक्तिबोध में 'सक्रिय जीवन-शक्ति' अधिक है।

प्रयोगवाद के विकास-क्रम में कुछ दिनों बाद शमशेर और काफी दिनों बाद रघुवीर सहाय आए। नेमि और मुक्तिबोध-वाला अन्तर्द्वन्द्व इन दोनों कवियों में भी दिखाई पड़ता है लेकिन यहाँ रघुवीर सहाय में यदि इस अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप मर्मस्पर्शी दर्द और शक्ति-अर्जित करने की वास्तविक आकांक्षा अधिक है तो शमशेर में यह अन्तर्द्वन्द्व स्पष्टतः विभाजित दो व्यक्तित्वों के रूप में स्थायी बन गया है जिसमें अपने-अपने ढंग से जनवादी और वैयक्तिक दो प्रकार की भावनाएँ कविता का रूप ले लिया करती हैं—निःसन्देह एक कोरे कर्त्तव्य-पालन के रूप में और दूसरी अनुभूति-प्रवण रूप में।

प्रयोगवाद के अंतिम दिनों में भारती, सर्वेश्वर जैसे भावुक कवि आए जिनके जन-आन्दोलन-भीरु मन को 'नदी के द्वीप' वाला फलसफ़ा कवच की तरह मिल गया। कम्यूनिष्ट नेतृत्व से आतंकित होने के कारण इनके मन में अपनी निजता के ग्रसे जाने की ऐसी काल्पनिक आशंका है कि ये अनजाने ही निरंतर अनास्था, शंका, निराशा और फिर भी मिथ्या आत्मविश्वास के गीत गाते चले जा रहे हैं। सर्वेश्वर जब 'घास काटने की मशीन' के खतरे बतलाते हैं और भारती अनुलिखित 'शंका' उठाते हैं तो वे करुण स्वर में 'नदी के द्वीप' का ही भाष्य करते हैं—

जिस दिन अपनी हर आस्था तिनके-सी टूटे
जिस दिन अपने अन्तरतम के विश्वास सभी निकले झूठे
उस दिन
होंगे वे कौन चरण

जिनमें इस लक्ष्यभ्रष्ट मन को मिल पाएगी
अंत में शरण

× × ×

हमको कुछ ऐसा लगता प्रभु
ऐसे कोई भी नहीं चरण, जिनमें मिल पांये हमें शरण
तुम भी केवल निष्क्रिय पथ हो
चलना तो हमको ही होगा
चलने में ही हम टूटों और अधूरों का शायद होगा
कुछ नया गठन
आश्रय देंगे हमको अपने जर्जर, पर अपराजेय चरण !

सूत्र और वृत्ति में जो अंतर होता है, वही यहाँ भी है। अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' को अपने ऊपर इतना विश्वास नहीं है, जितना इस शंकाकुल लक्ष्य-भ्रष्ट जर्जर चरण को है ! और इस आस्थाहीन 'आत्मविश्वास' के खोखले-पन का यही सबूत है कि न तो यह 'अनास्था' अनुभूत है और न यह आत्मविश्वास वास्तविक है। भारती की अधिकांश कविताएँ जिस राग-रंग से बनी-ठनी आती हैं, उन्हें देखकर यही कहा जा सकता है कि शंका की बातें वे केवल अवसर के तकाज़े से ऊपरी मन से करते हैं ! फिर भी 'प्रयोगवाद' के इतिहास में इस मनोवृत्ति का उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि इससे कुछ परवर्ती प्रयोगवादियों की अनुभूतिहीन अनुकरणशील प्रवृत्ति का पता चलता है।

प्रयोगवादी कवियों में प्रभाकर माचवे और गिरजाकुमार दो ऐसे कवि हैं जिनकी विचारधारा स्पष्ट नहीं है अथवा कम-से-कम जिन्होंने अपनी अनुभूति को निश्चित विचार-प्रणाली का रूप नहीं दिया है। दर्शनशास्त्र के विज्ञापित विद्यार्थी प्रभाकर माचवे के लिये इस तरह की बात थोड़ी आश्चर्यजनक है लेकिन है अक्षरशः सत्य। इसका कारण माचवे द्वारा ही उद्धृत कोलरिज के इस कथन में है कि गहरी भावनाएँ गहरे विचार की

कोख से जन्मती हैं।' और माचवे में न तो गहरी भावनाएँ हैं और न गहरे विचार! वे अपने भावों के प्रति क़त्तई 'सीरियस' नहीं हैं, इसलिए उनके पद्यात्मक प्रयत्नों को शुद्ध 'रूपवाद' कहा जा सकता है।

लेकिन गिरजाकुमार के लिए यही बात नहीं कही जा सकती। सफल रूपवाद और अनिश्चित विचार-प्रणाली के बावजूद गिरजाकुमार की 'थकान' और रूप-रस-रंग की ऐन्द्रिय 'तृप्ति' के पीछे संक्रान्ति युग के मध्यवर्गीय कवि की निश्चित मनोवृत्ति का पता चलता है। गिरजाकुमार के विषय में रघुवीर सहाय का यह कथन युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि 'विषय की अपेक्षा टेकनीक में रुचि अधिक रही है' उनके इस स्वकथन पर हमें पूरा विश्वास तो नहीं होता, परंतु विषय के प्रति उनकी संवेदना में टेकनीक विषय का एक अनिवार्य अंग बनकर आती है। और फिर "उस दशा में भी चट्टानें, धुँधले पथ, धुएँ की रेखाएँ, खंडहर, टाइफाइड और फिर पानी भरे बादल, केसर-शशि, तन-दीप्ति-दीपित आँचल, अध-मसले गात और कुआर की उजली धूप, सब एक विवश संघर्ष और उपलब्धि की छाया ही तो है।"[१]

इस तरह गिरजाकुमार की यह थकान और रुग्ण रूमानियत भी परोक्ष रूप से उसी व्यक्तिवाद से परिचालित है जिसमें जीवन की उलझनों से बचकर रंगीन दिवास्वप्नों में दिल बहलाने की प्रवृत्ति जगती है।

यहीं यह भी समझ लेना चाहिए कि प्रयोगवादी कवियों में सच्चे अर्थों में रूपवादी प्रभाकर माचवे, गिरजाकुमार तथा शमशेर ही हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि—इनकी सारी रचनाएँ 'रूपवादी' हैं; इसका मतलब केवल इतना है कि चित्रकला, रेखांकन तथा ध्वनि-चित्रों से प्रेम होने के कारण कविता में केवल रूप-विधि को भी इन्होंने सैद्धान्तिक रूप से अभ्यास किया है।

इस रूपवादी मनोवृत्ति का भी दूर तक विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि इसके मूल में भी वही चरम व्यक्तिवाद है जो सामाजिक

---

१. प्रतीक, जुलाई '५१

समस्याओं के प्रति व्यक्ति के मन में एक प्रकार का 'नॉन-सीरियस', ग़ैरजिम्मेदार और उदासीन रुख़ अख्तियार करवाता है और जिसके फल-स्वरूप कवि सामयिक समस्याओं से एकदम बचकर, उन सबकी सर्वथा उपेक्षा करके केवल काव्य-रूपों और 'शिल्पों' में ही निरुद्देश्य भाव से अपने को उलझाए रहता है। यह भी एक प्रकार का पलायन ही है। अक्सर देखा गया है कि चित्रकला और कविता में रूपवाद उसी समय आया है जब मध्यवर्ग ह्रासोन्मुख हुआ है।

३.

प्रयोगवाद का उदय ही मोह-भंग (डिस-इल्यूज़नमेंट) से हुआ इसलिए इसमें छायावादी कल्पनाशीलता के विपरीत यथार्थवाद का आग्रह अधिक था। कल्पना के द्वारा छायावाद ने जिन वस्तुओं को उदात्त रूप दे रखा था, उसकी क्षुद्रता के उद्घाटन में प्रयोगवादी कवि को विशेष प्रकार का आनंद मिलने लगा। उदाहरण के लिए छायावादी कवि ने जहाँ चाँदनी का बड़ा ही भव्य चित्र खड़ा किया था, वहाँ प्रयोगवादी कवि ने 'शिशिर की राका निशा' की वास्तविकता इस प्रकार चित्रित की—

वंचना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार!
दूर वह सब शान्ति, वह सित भव्यता, वह
शून्य के अवलेप का प्रस्तार—

इधर-कवल झलमिलाते
चेत-हर, दुर्धर कुहासे की हलाहल-स्निग्ध मुट्ठी में
सिहरते-से, पंगु, टुंडे
नग्न, बुच्चे दइमारे पेड़!

जिसमें आगे चलकर 'बाँस की टूटी हुई टट्टी', 'लटकती एक खम्भे से फटी-सी ओढ़नी की चिन्दियाँ दो चार' और 'मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में तीन टाँगों पर खड़ा नतग्रीव धैर्यधन गदहा' भी है।

अज्ञेय द्वारा चित्रित यह राका-निशा छायावादी कल्पना-मुग्ध संस्कार को ठेस पहुँचाने के साथ ही रंगीन आवरण के भीतर छिपी हुई कुरूपता का पर्दाफाश करती है।

छायावादी कवि प्रायः प्रकृति की मोहक पृष्ठभूमि में अथवा सुन्दर प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से नारी की छाया-प्रतिमा निर्मित करते रहे; लेकिन प्रयोगवादी कवि ने यहाँ भी अप्सरामयी नारी को स्वप्नस्थित गरिमामय पद से उतारते हुए सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया और इस तरह नारी-सौन्दर्य के उपमान भी स्वभावतः पदच्युत हो गए। अज्ञेय का ही 'सावन-मेघ—

भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत चिरातुर
दिखलाई पड़ रहा है और उनकी धरती भी
स्नेह से आलिप्त
बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल
बद्ध
वासना के पंक-सी फैली हुई थी
सत्य सी निर्लज्ज, नंगी
और समर्पित।

प्रकृति और नारी के प्रति प्रयोगवाद का यह आरंभिक दृष्टिकोण यथार्थ के नाम पर वस्तुतः नग्न यथार्थवाद अथवा 'नेचुरलिज़्म' है। काल्पनिक दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया में यथार्थवाद प्रायः शुरू-शुरू में ऐसा ही नग्न रूप लेता है। इस उच्छृंखलता के मूल में व्यक्तिवाद की ही अराजक मनोवृत्ति है।

इसी मनोवृत्ति के फलस्वरूप छायावाद का छुई-मुई-सा प्रेम अब मांसल रूप में प्रकट होने लगा। जहाँ पहले यह सिद्धान्त था कि 'सौन्दर्य केवल देखने की वस्तु है, छूने की नहीं', वहाँ प्रयोगवादी कवि ने उसे एकदम छूने की परिधि में खींच लिया। बादलों को देखकर इतने स्पष्ट स्वर में छायावादी कवि ने नारी को शायद ही कभी पुकारा हो—

आह, मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार—
प्यार है, अभिशप्त
तुम कहाँ हो नारि?

इस मुखरता के मूल में प्रयोगवादी कवि 'दमित वासना' का उभार बतलाते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि शुरू-शुरू में नई शिक्षा के द्वारा मध्यवर्गीय पुरुष ने नारी को पुराने सामंती बंधनों से मुक्त किया किन्तु यह मुक्ति केवल भावात्मक ही रह गई; आर्थिक और सामाजिक रूप से फिर भी नारी पराधीन ही रही। इसके फलस्वरूप मध्यवर्गीय व्यवस्था में स्वस्थ समानता के धरातल पर मुक्त नारी-पुरुष का मिलन संभव न हो सका। वास्तविक-मिलन के अभाव में आरंभ का भावात्मक और आदर्शात्मक मिलन निराधार होकर धीरे-धीरे विभिन्न प्रकार की मानसिक ग्रंथियों की सृष्टि करने लगा और अप्राप्त नारी की भूख बढ़ गई। यथार्थवादी दृष्टि के आने से यह भूख अत्यंत नग्न और अश्लील रूप में व्यक्त होने लगी।

कविता में इस तरह का दुस्साहस बहुत कम लोगों ने किया। लेकिन उस समय उपन्यास-कहानियों में नरोत्तम नागर, अमृतलाल नागर, सर्वदानंद वर्मा, ऋषभचरण जैन आदि ने इस तरह की उच्छृंखलताएँ खूब व्यक्त की। कविता में भी इस नग्न-यौन भावना की अभिव्यक्ति प्रायः प्रतीकात्मक ढंग से ही हुई और जब ये प्रतीक अत्यंत स्पष्ट हो गए तो उनकी स्पष्टता से घबराकर कवि सहसा चुप हो गया; ऐसी स्थिति में

लोचनों का भाव संकुल, व्यंजना का भीरु
फटा-सा अश्लील-सा विस्फार

ही शेष रहा। इसीलिए अनेक कवियों ने, 'व्यंजना-भीरु लोचनों का यह विस्फार' भी प्रकट नहीं होने दिया; वे इस विषय में प्राय: चुप ही रहे।

इस यथार्थवादी दृष्टि ने काव्य में उपेक्षित अनेक प्राकृतिक वस्तुओं, यंत्रों आदि को भी काव्य में स्थान दिया—कुछ तो केवल प्रतिक्रियावश और कुछ केवल शौक वश। एक ओर यदि उसने 'गोयठों' के गंधमय अम्बार' को दाख़िल किया तो दूसरी ओर 'कंकरीट के पोर्च', 'पावों में हकलाती चप्पल', सायरन, रेडियम घड़ी, चूड़ी का टुकड़ा, बाथरूम, क्रोशिए, चा की प्याली वग़ैरह की ओर ध्यान दिया। नरेश मेहता ने 'समय देवता' में इस तरह की भौगोलिक, प्राकृतिक, ऐतिहासिक अनेक चीज़ों की लम्बी फ़ेहरिश्त पेश कर दी है।

'लघुता के प्रति साहित्यिक दृष्टिपात' को प्रसाद जी ने यथार्थवाद का जो केन्द्रविन्दु कहा है, वह इन्हीं तथ्यों को लक्ष्य करके जिनमें एक ओर प्रकृति तथा वस्तु-जगत् की लघु वस्तुओं की ओर कवि का ध्यान जाय तो दूसरी ओर मानव-जगत् में भी लघु और क्षुद्र प्राणियों का चित्रण हो। प्रयोगवाद ने मानवजगत् के लघु जीवों की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना प्रकृति और यंत्र-जगत् की लघु वस्तुओं की ओर।

गम्भीर समझी जानेवाली वस्तुओं और मान्यताओं के प्रति हल्का ढंग और हल्की समझी जानेवाली चीज़ों और बातों के प्रति गंभीर रुख़—ये दोनों ही यथार्थवाद के दो पहलू हैं। प्रयोगवाद में ये दोनों बातें मिलेंगी। यदि एक ओर उसने छायावादी आदर्शों की खिल्ली उड़ाई तो दूसरी ओर 'गरम पकौड़ी' और 'चा की प्याली' को गौरवान्वित किया।

यथार्थवादी दृष्टि प्राय: भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता की प्रतिष्ठा करती है। जिस प्रकार छायावाद के आरंभिक दिनों में कैशोर भावुकता एक प्रकार की अलंकृति थी और उसे कवि-कर्म का बीजमंत्र माना जाता था, उसी तरह प्रयोगवाद के आरंभ-काल में भावुकता मूर्खता का पर्याय हो गई। कवि अपने तथा अपने परिवेश के विषय में इतना सतर्क हो गया कि हर जगह वह बौद्धिकता के रक्षात्मक कवच के साथ आने का अभ्यस्त हो चला। हर बात में उसे 'रैशनलाइज़ेशन' की आदत पड़ गई।

आओ बैठो
क्षण भर तुम्हें निहारूँ।
झिझक न हो कि निरखना
दबी वासना की विकृति है!

चलो, उठें अब;
अब तक हम थे बंधु
सैर को आए--
और रहे बैठे तो
लोग कहेंगे
धुँधले में दुबके दो प्रेमी बैठे हैं।

वह हम हों भी
तो यह हरी घास ही जाने;

'हरी घास पर क्षण भर' की अनुभूति लिखते समय संभव था कि छायावादी कवि भावुकतावश भावनाओं में बह जाता; लेकिन यहाँ अज्ञेय ने बौद्धिक ढंग से ही अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है।

प्रयोगवादी कवि में यह बौद्धिकता आरोपित नहीं है; बल्कि सामाजिक दवाव का सहज परिणाम है। यदि छायावादी कवि ने सामाजिक भय से अपने मानवीय प्रेम को रहस्यात्मक जामा पहनाया तो प्रयोगवादी कवि ने उसे बौद्धिकता के आवरण में रखा; लोग जो आरोप करते हैं उसे स्वयं ही कहकर कवि ने लोगों को अपनी साहसिकता और निर्भीकता से जैसे हतप्रभ कर दिया।

'ईमानदारी' का मूलमंत्र समझाते हुए इसी बौद्धिकता की व्याख्या अज्ञेय इस प्रकार करते हैं—"जैसे जैसे हमारी बौद्धिक सहानुभूति गहरी होगी, अभिव्यक्ति में व्यंजना आती जायगी, **वह सीधा संवेदन कम होता जायगा जो किशोर-कविता में होता है**। जहाँ तक लेखक का संबंध है, ईमानदारी का मतलब यही है कि वह उस बौद्धिक विकलता को लेकर

जिए और उसे अस्वीकार न करे, जो ज्ञान उसे दे जाता है और जो उसकी अनुभूति को सुधार जाती है।"[१]

दरअसल इस संक्रान्ति युग में भी जो कवि मध्यवर्गीय मनःस्थिति को लेकर भावुकता से भरी हुई अनेक सफल कविताएँ लिख लेते हैं, उनके बारे में यही समझना चाहिए कि या तो वे वास्तविकता का अति-सरलीकरण करते हैं, अथवा वे उसकी उलझनों से घबड़ाकर ऊपरी सतह की रंगीनियों में रम लेते हैं। गिरजाकुमार की रसिकता बहुत कुछ ऐसी ही है। भवानी प्रसाद मिश्र की मस्ती और सरलता का स्वाँग वस्तुतः जटिलता से बचने का उपक्रम है, जिनके यहाँ 'पड़ जाय जहाँ पर पाँव वही पथ है', और 'शायद सबका पथ ठीक' है! इन्हींकी देखादेखी 'सुमन' इस तरह लिखते हैं गोया उनके लिए कोई समस्या ही नहीं है और कुछ कवि इन झंझटों से बचने के लिए शुद्ध प्रकृति-चित्रण करते हैं अथवा लोकगीत लिखते हैं।

इस बौद्धिकता के परिणाम-स्वरूप प्रयोगवादी कवि के प्रतीकों और उपमानों में भी छायावादी कैशोर भावुकता का बहिष्कार दिखाई पड़ता है। पूर्ववर्ती समस्त उपमानों को छोड़कर वह अपनी प्रिया को 'बाजरे की कँलगी' से उपमित करते हुए कहता है कि

अगर मैं तुम को
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद के भोर की नीहार-न्हायी कुँई,
टटकी कली चम्पे की
वग़ैरह तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।

---

१. प्रतीक नवम्बर '५१ का संपादकीय

बल्कि केवल यही :
ये उपमान मैले हो गए हैं।

और इसी स्वर में स्वर मिलाकर एकदम नवोदित कवि भी सोचता है कि

'चाँदनी चन्दन सदृश' :
हम क्यों लिखें ?
मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें ?
हम लिखेंगे :
चाँदनी उस रुपए सी है कि जिसमें
चमक है पर खनक गायब है।

यह बौद्धिकता का दूसरा छोर है। यथार्थ के आग्रह से कोरी भावुकता और सरलता को छोड़ना एक बात है लेकिन भावप्रवणता को एकदम तिलांजलि देकर हर समय शुष्क बौद्धिक व्यायाम करते रहना बिल्कुल दूसरी बात है—इससे यथार्थ-दर्शन की जगह एक दूसरे प्रकार की अवास्तविकता की सृष्टि होती है।

जहाँ यह 'बौद्धिक विकलता' रचनात्मक रूप ग्रहण करती है, प्रायः अन्तर्जगत् और बाह्यजगत् के अत्यंत सूक्ष्म स्तरों को परखने और अभिव्यक्त करने की अन्तर्दृष्टि देती है।

एक मानसिक विषाद को ही लें। छायावादी कविताओं में भी प्रायः एक प्रकार के अस्पष्ट किन्तु अनुभवगम्य विषाद की मनःस्थिति का चित्रण मिलता है और उसके बाद की कविताओं में भी। नरेन्द्र जब कहते हैं कि

साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी।

तो यह अनजान-सी लगनेवाली उदासी छायावादी विषाद से कुछ अधिक गहन और विविध सूक्ष्म अर्थ-च्छायाओं से बुनी हुई है; लेकिन जब गिरजाकुमार 'क्वाँर की सूनी दुपहरी' की उदासी चित्रित करते हैं तो उससे कहीं अधिक गहनता और अर्थ-च्छायाओं का पता चलता है—

घरों में सुनसान आलस ऊँघता है
थकी राहें ठहर कर विश्राम करतीं
रिक्त कमरे की उदासी बढ़ रही है
दूर के आते स्वरों से।

अथवा 'दिनान्त' की उदासी का यह चित्र

बादल ढकी रात आती है
धूल-भरी दीपक की लौ पर मंदे पग धर।
गीली राहें धीरे धीरे सूनी होतीं
जिन पर बोझल पहियों के लम्बे निशान हैं
माथे पर की सोच भरी रेखाओं जैसे।
पानी-रँगी दिवालों पर सूने राही की छाया पड़ती
पैरों के धीमे स्वर मर जाते हैं
अनजानी उदास दूरी में।

इन चित्रों और शब्दों की ध्वनि से मन पर जो सामूहिक प्रभाव पड़ता है वह केवल प्रिय की याद-जनित उदासी नहीं है, बल्कि उसमें जीवन के अनेक अभाव घुले-मिले हैं। और इन सबसे भी अधिक गाढ़तर विषाद की वह मनःस्थिति है जिसे शमशेर एक 'लुढ़की सुराही' के प्रतीक से व्यक्त करते हैं:—

लुढ़की सुराही, तो
हुचक हुचक पानी ढुरा
गर्द भरे खुँदे हुए फर्श पर
　　　　　चुपचाप।
देख-देख मन कैसा हुआ।
मेरी सुराही थी
मेरी असावधान ठोकर में पड़ी—

गट्ट गट्ट हुचक रही थी ।
एक साँस रोक, बढ़ा——सीधा करने अपना
मुँधा हुआ पात्र ।
पर सुबह-सुवह ? फैला जो मन का विषाद
वह कहाँ ढंका गया ?

ग़नीमत है कि सुराही टूट नहीं गई, अन्यथा कविता के आर्थिक व्याख्याता सीधे-सीधे कह देते कि यह सारा विषाद तीन आने की सुराही टूटने का परिणाम है, बस। लेकिन गर्दभरे खुँदे हुए फर्श पर औंधे मुँह पड़ी हुचक हुचककर जल वमन करती हुई सुराही ने कवि के मन में कौन-सा मानवीय चित्र आँक दिया इसे समझकर उसकी अनुभूति का पता लगाया जा सकता है।

इसी तरह प्रिय की याद में न जाने कब से कविताएँ लिखी जा रही हैं, लेकिन जब प्रयोगवादी कवि याद में पराजय का अनुभव करता है तो याद की एक विशिष्ट मनःस्यिति आँकता है :—

भोर वेला-नदी तट की घंटियों का नाद
चोट खाकर जग उठा सोया हुआ अवसाद
नहीं मुझको नहीं अपने दर्द का अभिमान
मानता हूँ मैं पराजय है तुम्हारी याद !

अज्ञेय जैसा एक दर्द का अभिमानी कवि ही इस पराजय की विकलता का अनुभव कर सकता है। प्यार में भावुक कवियों के लिए आँसू बहाना आसान है, लेकिन अभिमानी हृदय से आँसू भी नहीं निकल पाते—

प्यार में अभिमान की पर कसक ही रोने नहीं देती !

प्रयोगवादी कवि 'चेतनाऽ पर किसी संज्ञा का अनवरत सूक्ष्म स्पन्दन' भी अनुभव करता रहता है, इसलिए वह व्यक्तिमन के अनेक सूक्ष्म भावों का चित्रण अत्यंत सफलता के साथ कर जाता है। रघुवीर सहाय जब भावाकुल हृदय की अभिव्यक्ति की विकलता को इन शब्दों में प्रकट करते हैं —

सिनेमा की रीलों सा कस के लिपटा है सभी कुछ
मेरे अन्दर
कमानी खुलने को भरती हुमस

तो वे अपनी विकलता के लिए एक चौंकानेवाली नई उपमा भर नहीं देते हैं, बल्कि उस उपमा के सहारे अपनी मानसिक कसमसाहट को अधिक सूक्ष्मता से व्यक्त करते हैं।

इसी तरह नेमिचन्द्र अपने उचटे हृदय को सायरन के बाद की शून्यता के सहारे व्यक्त करते हैं तो नवीन परिस्थितियों से उत्पन्न नई मन:स्थिति का सूक्ष्म चित्र आँकते हैं—

आज उचटा सा हृदय;
साइरन बज जाय उसके बाद
निर्जन शून्य सड़कों सा निभृत, निस्संग, खाली,
व्यर्थता की स्याह-सी बेमाप चादर से
अभी ज्यों ढक गया हो शून्य जी का प्रान्त।

मन:स्थिति चित्रण में प्रयोगवादी कवियों ने पहले से बारीकी दिखाई है। यह छायावाद युग के बहु प्रचलित शब्द 'अनुभूति' और प्रयोगवाद के 'संवेदना' के अंतर से ही समझा जा सकता है; पर्याय प्रतीत होते हुए इन दोनों शब्दों की अर्थच्छायाओं में सूक्ष्म अंतर तो है ही।

किसी प्राकृतिक दृश्य अथवा अन्य वस्तु को देखकर किसी अप्रस्तुत वस्तु के 'एसोसिएशंस' पहले के कवियों के मन में उठते थे, किन्तु उन स्मृति-चित्रों में प्रायः एकसूत्रता होती थी। प्रयोगवादी कवि के मन में संभवतः नवीन परिस्थितियों के कारण प्रायः ये स्मृतिचित्र क्रमहीन तथा विशृंखल रूप में—'फ्री एसोसिएशंस' के रूप में उठते दिखाई पड़ते हैं। यह वस्तुतः 'सुररियलिस्ट' मनोवृत्ति है जिसमें 'बाहर से असंबद्ध दिखाई पड़नेवाले बिखरे स्वप्न आप-से-आप एक रूपरेखा तैयार करने के लिए

छोड़ दिये जाते हैं।"[1] इसको समझाते हुए टी० एस० इलियट कहता है कि हमारा मन पके हुए सुअर के मांस की बू, दाँते की भव्य कविता का पाठ और प्रणय-जाल में उलझने की मधुर अनुभूति एक साथ कर सकता है। यानी ऐन्द्रिय सुखानुभव, भव्यता का अनुबोध और आवेगों की अतिशयता हमारे मन में एक साथ हो सकती है। ('कविता का उपयोग')।

प्रभाकर माचवे ने यह प्रवृत्ति निराला की कविता 'स्फटिक शिला' के अंत तथा 'कैलास में शरत्' में दिखलाई है जिसमें विवेकानंद के साथ हिमालय, मंगोलिया वगैरह की स्वप्न-यात्रा की विचित्र स्मृतियाँ संकलित हैं। असंबद्ध स्मृति-पुंजों की प्रतीक-व्यंजना के लिए अज्ञेय की 'कंकरीट का पोर्च' कविता देखी जा सकती है—जिसमें 'नये मुहल्ले की ऊँची-ऊँची इमारतों के बीच लाँघता हुआ' कवि क्षणभर के लिए 'एक डाक्टरनी के नये बँगले' के सामने ठिठक जाता है और उसकी 'बहकी हुई आँख' 'कंकरीट के बढ़े हुए पोर्च' पर टिक जाती है। उस 'निराधार' किन्तु 'चौड़े' और 'बहुत-सी जगह पर अपनी छाँह डालनेवाले' पोर्च को देखकर उसका ऊँघता आत्मा जागकर कहता है कि 'मूर्ख सब घर ग़ैर हैं' और फिर उसका ध्यान 'धुँधला-सा पड़ता हुआ' जाता है—

मैदान के किनारे वाली पटरी के उस मौलसिरी के
गाछ की ओर
जिसके नीचे खुड्ढी घास में बैठकर
एक दिन दो आने की विलायती मलाई की बर्फ
खाई थी।

इस तरह के बिखरे स्मृति-चित्र शमशेर, प्रभाकर माचवे, और नकेनवादियों में प्रायः मिलते हैं, किन्तु माचवे और नकेनवादी जहाँ किताबी नियमों को ध्यान में रखकर सचेष्ट रूप से केवल उदाहरण गढ़ने के लिए

---

१. 'इन ह्विच दि एपेरंट कयास ऑफ ड्रीम्स आर लेफ़्ट टु कलेक्ट देयर आउट लाइंस एकॉर्डिंग टु दि मारफॉलोजी ऑफ आर्ट।'

'फ्री-एसोसिएशंस' ले आते हैं, वहाँ शमशेर की कविताओं में वे स्मृति-चित्र अनायास आते जाते हैं। सायास और भद्दे ढंग से 'फ्री एसोसिएशंस' ले आन का अच्छा नमूना नरेश की 'वेदना निग्रह' शीर्षक कविता में मिलेगा जिसमें 'वेदना' शब्द के सहारे कवि को प्रसाद की 'आह वेदना मिली विदाई' कविता और फिर 'आदम हौआ' 'इदन कुंज' वग़ैरह के बाद 'सेक्राइमल ग्रंथि' और 'मनुस्मृति' याद आती है जिसमें वर्णाश्रम की चर्चा करते समय वणिकों में सपना वेंचनेवालों का उल्लेख नहीं है; इसलिए स्वप्न-विक्रयी के साथ सहानुभूति प्रकट करते हुए कवि कहता है कि

—यह ऐसा युग आया
कि सजा सजाया सपना भी जो टके सेर बेचो, तो भी कोई न ग्राहक।
अर्गो : वेदना-निग्रह के ग्राहक बन लो !

इसी मन:स्थिति से मिलता-जुलता स्वप्न-चित्रण है; अज्ञेय का 'चार का गजर' स्वप्न-प्रतीक का अच्छा नमूना है।

अन्तर्जगत् के अतिरिक्त बाह्यजगत् में भी इस सतर्क दृष्टि ने वर्ण, गंध, नाद आदि संबंधी अनेक सूक्ष्मताओं का अंकन किया है।

केसर रंग-रँगे वन, केसर के वसनों में छिपा तन सोने की छाँह-सा, फूल की रेशमी-रेशमी छाँहें, श्वेत-धुएँ-सा पतला नभ, झाँवरे पड़े सोने-से तारे इत्यादि गिरजाकुमार के अलवम के वर्ण-संबंधी नय चित्र हैं और कमरे की सारी छाँहों के हल्के स्वर-सा चुम्बन, ओले-सी जमी पड़ी चलने की आहट, नींद भरे आलिंगन में चूड़ी की खिसलन वग़ैरह ध्वनि-चित्र के नये नमूने हैं।

इसी तरह अज्ञेय के यहाँ भी रात की गुंजरित स्पन्दनहीनता, इन्द्रवधूटी का रवहीन मखमली स्वर, ओस की तिप् तिप्, पहाड़ी काक की क्लान्त बेसुर डाक 'हाक् हाक् हाक्', तरल कूजन में गूँजते से तप्त अन्तःस्वर जैसे ध्वनि-चित्र; विस्मृता-सी स्मरण के नीरव उसाँसों के सिरिस से परस प्रभृति स्पर्शचित्र; गंध-मूर्छित से घने वातावरण, गंध के डोरे डालती मालती, अधजानी बबूल की धूल मिली गंध आदि गंध-चित्र तथा क्षिति-

रेखा का मसृण ध्वान्त, नदी के सिमटने की चमक, भोर का फीका आलोक इत्यादि सूक्ष्म वर्ण-चित्र हैं।

रंग और रेखाओं की बारीकी के चित्रकार शमशेर के यहाँ परस्पर मिले-जुले विभिन्न ऐन्द्रिय-बोधवाले अनेक चित्र मिलेंगे। यदि एक ओर

मकई से लाल गेंहुए तलुए
मालिश से चिकने हैं!....
सूखी भूरी झाड़ियों में व्यस्त
चलती फिरती पिंडलियाँ!...

जैसा उत्तेजक वर्ण-चित्र है, तो दूसरी ओर

यह समुन्दर की पछाड़
तोड़ती है हाड़ तट का
अति कठोर पहाड़

भयंकर नाद-चित्र और तीसरी ओर इन सबका मिला-जुला ऐन्द्रिय-चित्र—

पपड़ीले पत्थर की पीठ पर साँप केंचुली उतारता रहा;
लहर जहाँ काँस में, सिवार में पेट उचकाती-सी अंडों के
छिलके उतारती-सी
हिलती ही रही लगातार—
नशे का खुमार लिए हुए वहाँ हवा में
चिनक चिनक कर मीठा दर्द होता ही रहा।

ये वे ऐन्द्रिय चित्र हैं जो स्पष्ट ऐन्द्रिय बोध के अतिरिक्त प्रतीकात्मक और सांकेतिक ढंग से दूर तक हमारी ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजित करते हैं।

प्रयोगवाद की यथार्थवादी, अन्तर्मुखी तथा बौद्धिक प्रवृत्ति ने कविता के शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास, छंद-संगीत और प्रतीक-योजना को भी प्रभावित किया है।

आरंभिक दिनों में अज्ञेय, मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र आदि की रचनाओं में एक प्रकार के बुद्धि-प्रसूत बड़े-बड़े क्लिष्ट और दुरुच्चार्य शब्दों के प्रयोग की बहुलता दिखाई पड़ती हैं। छायावादियों के शब्द जहाँ कल्पना-कलित तथा कुसुम-कोमल थे, वहाँ आरंभिक प्रयोगवादी कविता के शब्द अनगढ़ ठीकरों से कड़े थे। उन दिनों अज्ञेय की शब्दावली इस तरह की होती थी—

निविड़ान्धकार, एक अकिंचन निष्प्रभ अनाहूत अज्ञात द्युति-किरण, आसन्न-पतन बिन जमी ओस की अंतिम ईषत्करुण, स्निग्ध कातर शीतलता अस्पृष्ट किन्तु अनुभूत, शत-फण बुभुक्षा के कुलाहल का आस्फालन, प्रस्वेद-श्लथ संभार, आत्म-लय के रुद्र-ताण्डव का प्रमाथी तप्त आवाहन, घनावृत ऐक्य आदि।

धीरे-धीरे आतंकमय विशेषणों का यह समस्त संभार उस दर्प-स्फीत आवेग के साथ क्रमशः कम हुआ और अब वे सीधे-सादे हल्के-फुल्के ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं—

भोर का बावरा अहेरी, लाल लालकनियाँ, कलस-तिसूल, विफल दिनों की कलौंस, छोरियाँ, गोरियाँ, भोरियाँ वगैरह।

इस सादगी में ऊपर-ऊपर से जिस ऋजुता और सरलता का दर्शन होता है, वह कुछ लोगों के अनुसार पहले की क्लिष्टता से श्रेष्ठ है और साथ ही लोकोन्मुखता का प्रमाण है। किन्तु भाव-सौष्ठव की दृष्टि से अच्छी तरह देखने पर पता चलेगा कि इन शब्दों में पहले का-सा ओज नहीं है—शेष है केवल टूटे हुए हृदय का निर्जीव और दुर्बल शब्दोद्‌गार।

शब्द-चयन के विषय में गिरजाकुमार पहले बहुत अधिक सतर्क थे और मेहनत करके उन्होंने छायावादी पदावली की टक्कर में कोमल किन्तु उससे थोड़ी भिन्न पद-रचना का नमूना सामने रखा। इस प्रयत्न में गिरजाकुमार स्वभावतः एक हद तक छायावादी अस्पष्टता के शिकार हो गए और उनके यहाँ केसर, रेशम, छाँह, थकन, उदासी, मिठास आदि शब्द तकिया-कलाम की तरह वैसे ही बार-बार आने लगे जैसे छायावाद में छाया, असीम, अनंत, नव, चिर, मृदु, मधु आदि आया करते थे। गिरजाकुमार ने

वस्तुतः सूक्ष्म अर्थच्छायावाले शब्दों के मूल्य पर कोमल पदावली जुटाई; इसीलिए उनके यहाँ सूक्ष्म मनोभावों को व्यक्त करनेवाली शब्दावली का प्रायः अभाव है। गिरजाकुमार के भावों की ही तरह उनके शब्द भी वास्तविकता के केवल ऊपरी स्तरों को ही स्पर्श करने की क्षमता रखते हैं।

नरेश को छोड़ प्रायः परवर्ती प्रयोगवादी कवियों की शब्द-रचना निःसन्देह अधिक सरल और ऋजु दिखाई पड़ती है। शमशेर और रघुवीर सहाय की पदावली में चुस्ती और यथातथता (इक्ज़ैक्टनेस) अधिक है और भारती में अनावश्यक अपव्यय।

यही क्रम प्रयोगवाद के वाक्य-विन्यास में भी दिखाई पड़ता है। आरंभिक प्रयोगवादी कविताओं के वाक्य प्रायः लंबे और पैरेंथीसिस से भरे हुए आते थे; जैसे मुक्तिबोध का यह लंबा वाक्य--

वह परस्पर की मृदुल पहचान जैसे
अतलगर्भा भव्य धरती हृदय के निज कूल पर
मृदु स्पर्श कर पहिचान करती, गूढ़तम उस विशद
दीर्घच्छाय श्यामल-काय बरगद वृक्ष की
जिसके तले आश्रित अनेकों प्राण,
जिसके मूल पृथ्वी के हृदय में टहल आए, उलझ आए।

अथवा अज्ञेय का दूसरा वाक्य--

नहीं चाहे प्राण तुम प्रत्येक स्पन्दन की
बनो बेबस फेन-सी उच्छ्वसित समभागी--
चेतना की दो प्रवाहित पृथक् धारों-सी
जो कि संगम के अनन्तर भी
रंग अपने पृथक् रखती हैं
और जिनके
धुले उलझे परस्पर-वलयित

द्रवित देहों में
शान्ति में गति से, परम कैवल्य से संवेदना से
भँवर हैं उद्भान्त मंडलाते—
(यद्यपि आगे फिर बृहत्तर
ऐक्य में दोनों पृथक् अस्तित्व होते लीन अनजाने)

लेकिन मानसिक उलझन और अन्तर्द्वन्द्व के कम होने से वास्तविकता के सम्मुख स्थिर समर्पित अज्ञेय के वाक्य अब छोटे-छोटे और दूरान्वय-दोष से रहित होते हैं—

हम नदी के द्वीप हैं—
हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाय।
वह हमें आकार देती है।
माँ है वह। है, इसीसे हम बने हैं।

स्पष्ट दिखलाई पड़ रहा है कि इस स्थिर समर्पण ने कवि से वाक्य-प्रवाह छीनकर अब केवल वाक्य-खंड दे दिए हैं।

प्रयोगवादी कवियों में शमशेर की वाक्य-योजना सबसे विलक्षण है। शमशेर वाक्य नहीं, प्रायः शब्द लिखते हैं; वे 'ग्राफ पेपर' पर जैसे बिन्दु निश्चित करते हैं जिन्हें रेखाओं से मिलाने का काम पाठक के ऊपर रहता है। जैसे—

गाएँ मैली सफेद काली भूरी।
पत्थर लुढ़क पड़े। पेड़ स्थिर नीरव।
दो पहाड़ियाँ धूम-विनिर्मित पावन।

इसका कारण केवल यही नहीं है कि उन्हें शब्दों की फ़िज़ूल-खर्ची नापसंद है; बल्कि कविता में उनकी खास कोशिश यह रही है कि हर चीज़ की, हर भावना की, जो एक अपनी भाषा होती है जिसमें वह कलाकार से बातें करती है, उसी को सीखूँ।"[1] फलतः शमशेर के वाक्य भाव और वस्तु

१. दूसरा सप्तक, पृ० ८४

में निहित लय को पकड़कर चलते हैं; इस तरह वे छंद से परिचालित होते हैं। यों तो सभी के वाक्य वस्तुतः छंद-लय से ही परिचालित होते हैं, लेकिन विषय-वस्तु में निहित लय को यथातथ रूपांतर करने की जो कोशिश शमशेर में दिखाई पड़ती है, वह किसी प्रयोगवादी कवि में नहीं है। यह प्रवृत्ति बहुत कुछ कमिंग्स, मायाकोव्सकी इत्यादि से मिलती-जुलती है। जैसे यह कविता—

ख़ामोश
हो;
होश··· न खो;
रो, मगर—जी।
जिन्दगी संसार की आख़िर
तू ही।
ओ साबिर
ख़िला परवर यह
बे-रूही
आख़िर
वह भी है
तू—ही!
तू—ही!
तू—ही!

अथवा

—सुन्दर।
उठाओ
निज वक्ष
—और—कस—उभर।
क्यारी

भरी गेंदा की
स्वर्णारक्त
क्यारी भरी गेंदा की।
तन पर
खिली सारी
अति सुन्दर ! उठाओ।

इस छन्द: प्रवृत्ति के अतिरिक्त अन्य प्रयोगवादी कवियों ने प्रायः अपने भावों की मुक्त अभिव्यक्ति के लिए मुक्त-छंद का ही सहारा लिया है। छायावाद-युग में जो मुक्तछंद वैकल्पिक था, वह प्रयोगवादी कविता का मुख्य स्वर हो गया। मुक्तछंद को ही विशेष रूप से अपनाने के कारण प्रयोग-वादियों ने इसमें नये-नये स्वरों और नई-नई लयों के प्रयोग किए। छायावाद में प्राय: रोला और घनाक्षरी की लय पर ही मुक्तछंद लिखे गए, लेकिन प्रयोगवाद में सवैया तथा अन्य प्राचीन छंदों की लय का मुक्त ढंग से उपयोग किया गया।

प्रयोगवादी कवियों ने गीत भी लिखे हैं और उनमें कभी-कभी लोक-गीतों की धुन पर अच्छे गीत बन पड़े हैं। किन्तु छायावादी गीतों की तुलना में प्रयोगवादी गीत कम मोहक और अधिक सपाट प्रतीत होते हैं। दरअसल प्रयोगवाद में वास्तविक प्रगीतात्मकता नहीं है। इसीलिए अज्ञेय के गीत जिस गीतात्मक उठान से शुरू होते हैं; उसका निर्वाह अंत तक नहीं कर पाते। प्रायः थोड़ी दूर चलकर उनके गीत अपनी लय से पथभ्रष्ट होकर टूट जाते हैं। 'फूल कांचनार के' तथा 'ओ पिया पानी बरसा' जैसे गीतों में इस विच्छिन्नता को परखा जा सकता है।

प्रतीक-योजना के क्षेत्र में प्रयोगवाद ने छायावादी लाक्षणिक वक्रता से आगे बढ़कर अत्यधिक सांकेतिक प्रतीकों के प्रयोग किए। इसमें कोई शक नहीं कि संपूर्ण प्रयोगवाद प्रतीकवाद नहीं है; किन्तु अज्ञेय, शमशेर जैसे कवि मूलतः और मुख्यतः प्रतीकवादी हैं। इनका प्रतीकवाद पूर्ववर्ती रहस्य-

वादी कवियों की भाँति रहस्य-प्रतीकों पर आधारित नहीं है; लेकिन इनके प्रतीकवाद का भी मूलत: वही सैद्धान्तिक आधार है। इन प्रतीकवादियों को स्पष्ट रूप से यथार्थ का चित्रण करते हिचक होती है, इसलिए यथार्थ की कटुता, नग्नता और भयंकरता से बचने के लिए प्राय: ये संकेतगर्भी प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। 'तार-सप्तक' के वक्तव्य में अज्ञेय ने स्वीकार किया है कि प्रतीक द्वारा कभी-कभी वास्तविक अभिप्राय अनावृत हो जाता है--तब वह उस स्पष्ट इंगित से घबराकर भागता है, जैसे बिजली के प्रकाश में व्यक्ति चौंक जाय।' इस बात को और भी स्पष्ट करने के लिए अज्ञेय ने डी० एच० लारेंस की एक कविता का हवाला दिया है जिसमें 'प्रेम-प्रसंग में एकाएक बिजली चमकने पर पुरुष अपना प्रेमालाप छोड़कर छिटककर अलग हो जाता है क्योंकि बिजली ने उस व्यापार को उघड़ा कर दिया है।'

इस प्रकार जैसे रहस्यवादी यथार्थ से अनभिज्ञ होने के कारण प्रतीक-वादी बनने को विवश था, वैसे ही यथार्थ-भीरु होने के कारण प्रयोगवादी भी प्रतीकवादी बना। दोनों ही मूलत: यथार्थ को अज्ञेय रहने देना चाहते हैं, इसीलिए प्रतीकों का आवरण डालते हैं और इस आवरण के बावजूद उस वस्तु की ओर संकेत करना चाहते हैं।

आरंभ में अज्ञेय के प्रतीक उन्हीं के शब्दों में प्राय: यौन-प्रतीक थे; लेकिन धीरे-धीरे विचारधारा के परिवर्तन के साथ वे इतर मान्यताओं के भी सूचक बने। 'नदी के द्वीप' अस्तित्व-संकट का प्रतीक है तो अनुलिखित कविता में 'बालू का तट' जीवन की ऊब भरी निर्जन शून्यता का और अँगुलियों के बीच से बालू का यूँ ही गिराना अनमने ढंग से इस वास्तविकता को झेलते जाने का।

इस बालू के तट पर--(किसका तट, जो अंतहीन फैला ही फैला-
दीठ जहाँ तक भी जाती है !--)
बैठे हम अवसन्न भाव से पूछ रहे हैं :
कहाँ गया वह ज्वार, हमारा जीवन, वह हिल्लोलित सागर
कैसे, कहाँ गया ?

लो : मुट्ठी भर रेत उठाओ :
—ठीक कह रहा हूँ मैं, हँसी नहीं है—
उसे अँगुलियों में से बह जाने दो : बस।
यों।
इस यों में ही हैं सब जिज्ञासाओं के उत्तर।

इतना होते हुए भी यौन-प्रतीकों से अज्ञेय सर्वथा मुक्त नहीं हो सके हैं। अब भी वे

सो रहा है झोंप अँधियाला
नदी की जाँघ पर

लिखते हैं और

दो पँखुरियाँ
झरी लाल गुलाब की, तकतीं पियासी
पिया-से ऊपर झुके उस फूल को।

देखकर उन्हें 'ओठ ज्यों ओठों तले' याद आ जाते हैं।

शमशेर के प्रतीक अज्ञेय से कहीं अधिक उलझे हुए तथा दुरूह हैं और ये भी प्रायः यौन-संकेत वाले हैं। 'सिवार में पेट उचकाती-सी अंडों के छिलके उतारती-सी' साँप की लहर का लगातार हिलना; और 'सागर में अध-डूबा गोल सूरज' ऐसे ही यौन-प्रतीक हैं—

सोने के सागर में अहरह
एक नाव है
(नाव वह मेरी है)
सूरज का गोल पाल संध्या के
सागर में अहरह
दोहरा है...
ठहरा है....
(पाल वह तुम्हारा है)

प्रतीकवादी न होते हुए भी अन्य प्रयोगवादी कवियों ने भावों और वस्तुओं के सूक्ष्म-चित्रण के लिए अनेक सुन्दर अप्रस्तुतों का विधान किया है। जैसे—

धीरे-धीरे झुकता जाता है शरमाए नयनों-सा दिन, सिनेमा की रीलों-सा कसके लिपटा है सभी कुछ मेरे अंदर, दिल की धड़कन भी इतनी बेमानी जितनी यह टिक-टिक करती हुई घड़ी, निकल रही छिपकली-सी लड़की दरवाज़े से, हलकी मीठी चा-सा दिन, चाँदनी की उँगलियाँ चँचल-क्रोशिए से बुन रही थीं चपल फेन-झालर बेल मानों, मौन आहों में बुझी तलवार तैरती हैं बादलों के प्यार, खोखली बन्दूक से ठंढे पड़े दो हाथ।

यह लय-तान, प्रतीक योजना आदि जहाँ अपने आप में साध्य बनकर आते हैं वहाँ प्रयोगवाद रूपवाद का रूप धारण कर लेता है। शमशेर कभी केवल कुछ शब्दों और कभी केवल लय-विशेष के लिए अथवा चित्र-विशेष से आकृष्ट होकर कविताएँ लिख जाते हैं और उसी रूप में कविता को सम्पूर्ण मानते हैं। इस तरह की एक कविता यह है—

सावन की उनहार
आँगन-पार!
मधु बरसे, हुन बरसे
बरसे—स्वाती धार
आँगन पार
सावन की उनहार!

इस कविता की रचना 'उनहार', 'हुन' आदि दो-एक मोहक शब्दों के लिए तथा लय-विशेष के लिए हुई है। यह रूपवादी मनोवृत्ति प्रभाकर माचवे और कभी-कभी नरेश मेहता में भी दिखाई पड़ती है।

४.

कुल मिलाकर प्रयोगवादी कविताएँ ह्रासोन्मुख मध्यवर्गीय जीवन की यथार्थ चित्र हैं। इनमें मध्यवर्गीय हीनता, दीनता, अनास्था, कटुता, अन्त-

मुखता, पलायन आदि का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है। इस युग में जब कि प्रयोगवादी कवियों के कुछ सजातीय और सधर्मा कवि, अरविंद दर्शन से प्रभावित उर्ध्वचेतन रहस्यवादिता में आश्रय ले रहे हैं और कुछ भक्ति-भाव पूर्ण निर्वेद में विश्राम ढूँढ़ रहे हैं तथा कुछ मृत्यु की उपासना में लीन हैं, प्रयोगवादी कवि साहस के साथ अपने व्यक्ति-मन और व्यक्तिमन के माध्यम से अधिकांश मध्यवर्गीय समुदाय की दुर्बलताओं का उद्‌घाटन कर रहे हैं; वस्तुस्थिति से डरते हुए भी उस पर मोहक आवरण डालने की जगह ये उसका वास्तविक रूप दिखलाते चल रहे हैं। इन परिस्थितियों से निकलने का रास्ता न तो उन्हें स्वयं मालूम है और न ये दूसरों को ही बतला सकते हैं, फिर भी अनजाने ही मध्यवर्गीय जीवन की असारता का बोध वे करा रहे हैं। इसी 'ईमानदारी' के कारण इन कविताओं में गहरी संवेदना और 'वैयक्तिक अनुभूतियों में निश्छल सुसंगति' है। हिंदी कविता के इतिहास में इसीलिए इन्होंने सूक्ष्म संवेदना और गहन अभिव्यंजना संबंधी कुछ महत्त्वपूर्ण निधि दी है।

कविता के जो पाठक एक निश्चित प्रकार की रसानुभूति के अभ्यस्त हैं और जो पहले की लिखी हुई कुछ विशेष ढंग की कविताओं से ही उद्दीप्त होते हैं, उनके लिए प्रयोगवाद क्या, कोई भी नवीन काव्य-प्रवृत्ति व्यर्थ है। अँधरा के आगे रोवै, आपन दीदा खोवै। लेकिन उम्मीद है कि हिन्दी में सभी पाठक सावन के अंधे ही नहीं हैं। प्रयोगवादी कविताओं ने अत्यंत आत्मनिष्ठता के बावजूद समाज के एक अंग की यथार्थ मनः-स्थिति को प्रतिध्वनित किया है और फिर उस प्रतिध्वनि के द्वारा हममें से कुछ की कुंठित संवेदनशीलता को उद्बुद्ध किया है। इस दृष्टि से इन कविताओं का ऐतिहासिक महत्व है। क्षयिष्णु मध्यवर्ग की मनोवृत्ति को समझने में ये कविताएँ काफ़ी उपयोगी हैं।

जहाँ तक प्रयोगवाद की अत्यंत आत्मनिष्ठता का संबंध है, उसके विषय में अभी तक यही कहा जा सकता है। यह संकीर्णता दूसरों के लिए घातक होने से पहले स्वयं प्रयोगवादी कविता पर ही घातक सिद्ध होगी जैसा कि

अभी से कुछ-कुछ आभासित होने लगा है। प्रयोगवादी कविताओं में एक विशेष प्रकार की घुटन और एकरसता मिलती है जो कवि और पाठक दोनों की मनोवृत्तियों को गहराने के नाम पर संकुचित करती है और इस तरह उन्हें व्यापक विश्व—समाज और प्रकृति—में फैलने से रोककर मनुष्य को जीवन्मृत बना देती है।
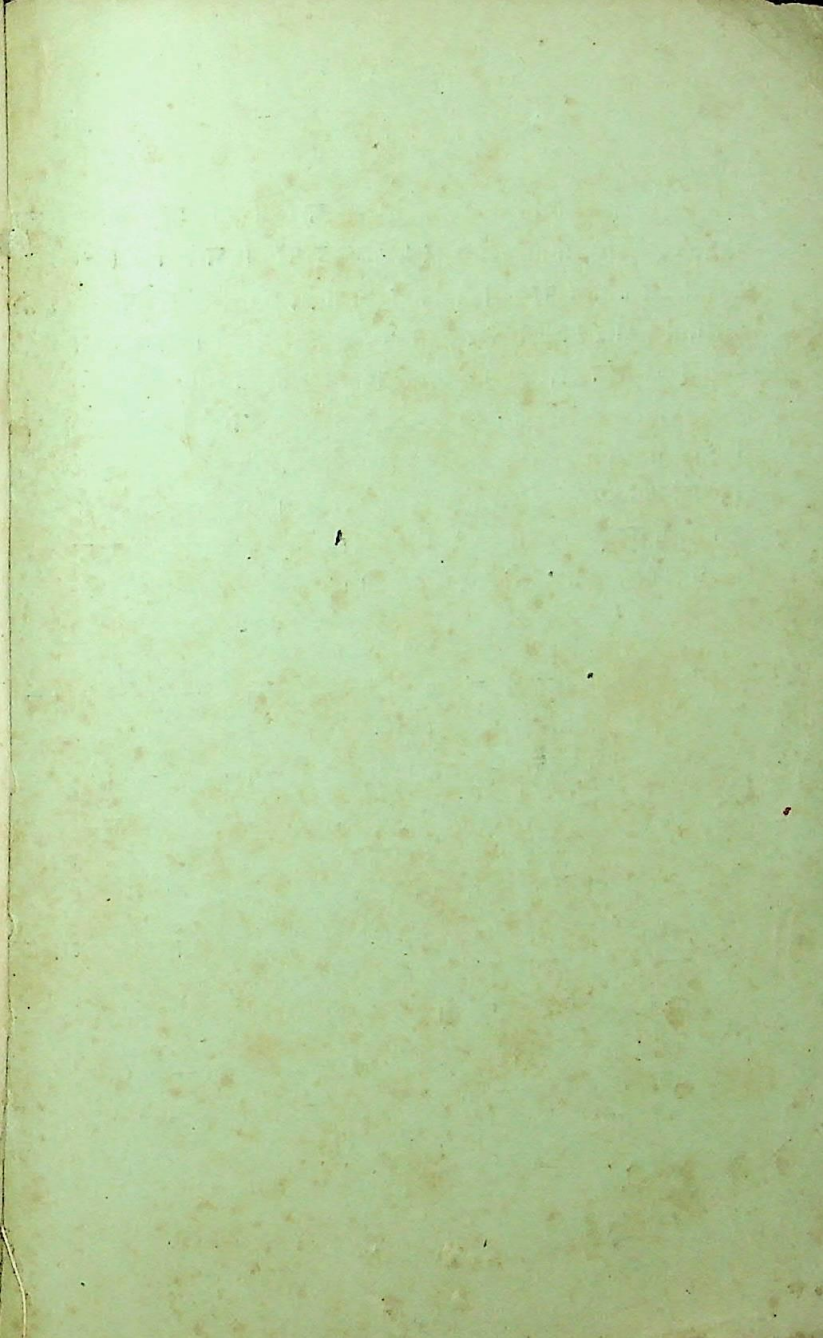
पुस्तक परिचय

इस पुस्तक में आधुनिक साहित्य की चार प्रमुख प्रवृत्तियों—छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद पर विचार किया गया है। यों तो इन विषयों पर काफी लिखा गया है, लेकिन संक्षेप में इतना सांगोपांग और स्पष्ट विवेचन शायद ही कहीं मिले। लेखक ने प्रत्येक प्रवृत्ति की भाव और कला-सम्बन्धी विशेषताओं के साथ ही उसके उदय के सामाजिक कारण, ऐतिहासिक महत्त्व और स्थायी देन पर विचार किया है। आरम्भ में ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास-क्रम पर छोटी सी भूमिका भी है। इन निबन्धों से अनेक भ्रान्तियाँ दूर होंगी तथा इन प्रवृत्तियों का सही रूप सामने आएगा और विचारकों को अनेक नये सूत्र प्राप्त होंगे।

रूप रेखा

१. *छायावाद*—'छायावाद' शब्द का इतिहास—उदय के सामाजिक कारण—सीमान्त—केन्द्रीय विचार—विविध रूपों में अभिव्यक्ति—ऐतिहासिक महत्त्व—सीमाएँ और उपलब्धि।

२. *रहस्यवाद*—'रहस्यवाद' शब्द का इतिहास—जीवन-दृष्टि—अज्ञात असीम की सामाजिक व्याख्या—रहस्य-प्रतीकों का विश्लेषण—रहस्य भावना की परम्परा और आधुनिक रहस्यवाद।

३. *प्रगतिवाद*—इतिहास—परम्परा और प्रगति—सामाजिक यथार्थवाद—कविता और कथा-साहित्य की प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ—समीक्षा के मान—ऐतिहासिक दिशा।

४. *प्रयोगवाद*—इतिहास—प्रयोग और नई कविता—व्यक्तिवाद और उसके विविध रूप—विभिन्न प्रवृत्तियाँ—शैली सम्बन्धी नवीन प्रयोग—सीमाएँ और उपलब्धि—भविष्य।

मूल्य १॥) रु०

किताब महल ❋ प्रकाशन ❋ इलाहाबाद